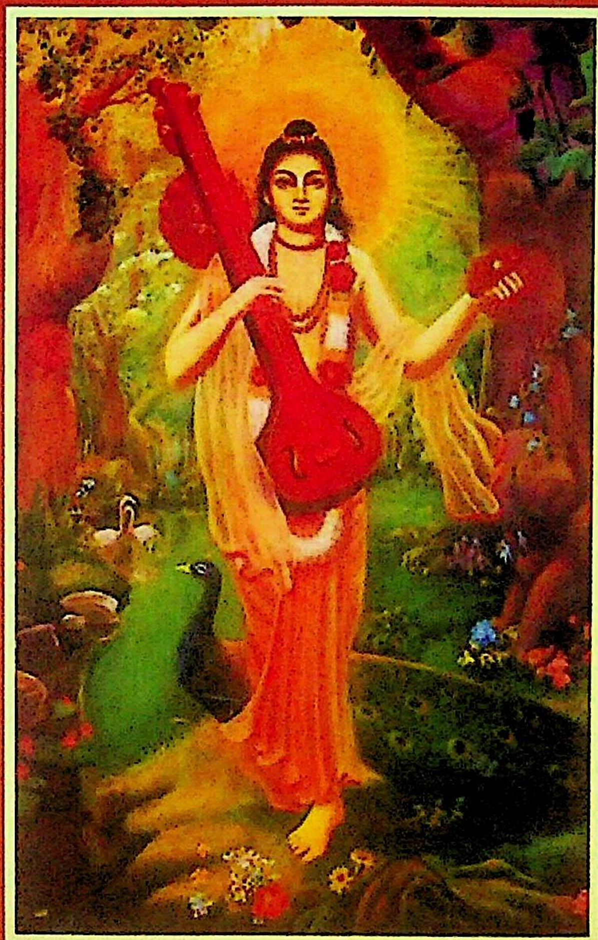


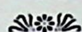
नारदभक्तिसूत्र

(नारदभक्तिदर्शन)

हिन्दी टीका सहित

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला
435



नारदभक्तिसूत्र

भाषाटीका सहित



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

नारदभक्तिसूत्र

प्रकाशक
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001
दूरभाष : 0542-2335263
www.chaukhamba.co.in
email : csp_naveen@yahoo.co.in

संस्करण 2014
मूल्य : 75.00

वितरक
चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस
4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली नं. 21-ए, अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली 110002
दूरभाष : 011-23286537
email : chaukhambapublishinghouse@gmail.com

•

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बैंक ऑफ बड़ोदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001

•

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर
पो. बा. नं. 2113, दिल्ली 110007

दो शब्द

भक्ति के आचार्यों में देवर्षि नारदजी का प्रमुख स्थान है । देवर्षि नारदजी सृष्टि-रचयिता ब्रह्माजी के मानस पुत्र तथा उनके शिष्य भी हैं । विधाता ने देवर्षि नारदजी को श्रीमद्भागवत का संक्षेप में उपदेश करने के अनन्तर आज्ञा दी—

'इदं भागवतं नाम यन्मे भगवतोदितम् ।
संग्रहोऽयं विभूतीनां त्वमेतद् विपुलीकुरु ।।
यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति ।
सर्वात्मन्यखिलाधार इति सङ्कल्प्य वर्णय'।।

(श्रीमद्भागवत २/७/५१-५२)

अर्थात् यह भागवत नामक पुराण है जिसका उपदेश भगवान् नारायण ने मुझे दिया था । मैंने इसमें भगवान् के अवतारों का संक्षेप में वर्णन किया है । अब तुम इसका विस्तार करो; परन्तु विस्तार करते समय इसका ध्यान रखना कि जिस प्रकार सभी की आत्मा में स्थित समस्त जगत् के आधारस्वरूप भगवान् श्रीहरि में मनुष्यों की भक्ति हो उस प्रकार का संकल्प कर इसका वर्णन करो ।

नारदजी ने अपने पिता व गुरु ब्रह्माजी की आज्ञा को अङ्गीकृत किया । वैसे नारदजी स्वयं स्वभाव से जीवों को भगवद्भक्ति में प्रेरित करनेवाले हैं । उनके बारे में कहा गया है कि 'नारदाद्देवदर्शनात्' अर्थात् नारदजी जिसको प्राप्त होते हैं उसको भगवान् का दर्शन कराते हैं । श्रीमद्भागवत पुराण में भक्ति के प्रमुख बारह आचार्यों के नाम गिनाये गये हैं । इन द्वादश भक्ति के आचार्यों में नारदजी का नाम दूसरे स्थान पर आया है—

'स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः ।
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्'।।

(श्रीमद्भागवत ६/३/२०)

देवर्षि नारदजी अनेक विद्याओं के ज्ञाता एवं उपदेष्टा हैं । उन्होंने सर्वप्रथम धर्मशास्त्र का उपदेश किया । उनके नाम से नारदस्मृति नामक स्मृतिग्रन्थ है । इसके बाद उन्होंने उपासना-प्रधान नारदीय पाञ्चरात्र का प्रणयन किया । सर्वप्रथम स्मृतिपरक ग्रन्थों में धर्म के अनुष्ठानों के विषय में बतलाया, पुनः नारदीय पाञ्चरात्र में उपासना किस प्रकार करनी चाहिए—इसके विषय में समझाया । तत्पश्चात् प्रेमप्रधान भक्ति के निरूपण के लिए उन्होंने इस नारदभक्ति सूत्र की रचना की । इस भक्तिदर्शन में कुल चौरासी सूत्र हैं । नारदभक्तिसूत्र अतिसरल, सुबोध एवं ललित हैं । इसकी पद्धति

अद्भुत व विलक्षण है । इसकी रचना का काल क्या है, उन्होंने इसका निर्माण कब किया? यह अभी तक ज्ञात नहीं है । किन्तु इसमें भक्तिविषयक जिन तथ्यों का विवेचन हुआ है वे साधकों के लिए अति उपयोगी एवं कल्याणकारी हैं ।

भक्ति का स्वरूप–भक्ति क्या है ? लोगों ने भक्ति की अनेक प्रकार से व्याख्या की है । ये व्याख्याएँ शास्त्रीय, अशास्त्रीय तथा मनमाने ढंग से की गयी हैं । अशास्त्रीय भक्ति कल्याण करने वाली नहीं होती । जैसा कि पद्मपुराण में कहा गया है—

'वेदशास्त्रपुराणादीन् पाञ्चरात्रविधिं विना ।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव केवलम् '।।

अर्थात् जो वेद, शास्त्र, पुराण तथा पाञ्चरात्रसम्मत पद्धति का त्याग कर मनमाने ढङ्ग से भगवान् की भक्ति की जाती है वह मात्र अनर्थ का ही कारण होती है ।

लोग मनमाने ढङ्ग से भक्तिमार्ग में प्रवृत्त न हो इसलिए नारदजी ने प्रस्तुत भक्तिदर्शन में शास्त्र-प्रतिपादित भक्ति का स्वरूप बतलाया है । व्याकरण की दृष्टि से भक्ति शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से सम्पन्न होती है—(१) भञ्जनं भक्तिः, (२) भजनं भक्तिः ।

(१) भञ्जनं भक्तिः—'भञ्जो आमर्दने' धातु से इसकी व्युत्पत्ति होती है । इसका अर्थ है—जगत् के माया-मोह, राग-द्वेष तथा आध्यात्मिक अज्ञान का मर्दन कर देना अर्थात् नष्ट कर देना ही भक्ति है ।

(२) भजनं भक्तिः—भजन किसे कहते हैं ? रसपूर्वक सेवा-आराधना या पूजा करने को भजन कहते हैं । सत्संग, कथा आदि के माध्यम से भगवान् के जो गुण, माहात्म्य, लीला, रूप आदि सुने जाते हैं उस श्रवणजन्य स्मृति को पुनः-पुनः चित्त में लाकर जो उसका रसास्वादन किया जाता है, इसी का नाम भजन है । यह भजन करना ही भक्ति है ।

भक्तिरसामृतसिन्धु नामक ग्रन्थ में भक्ति की अतिसरल परिभाषा की है—

'अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा'।।

अर्थात् भगवान् के प्रेम के सिवाय दूसरी कोई इच्छा-आकांक्षा न हो, ज्ञान और कर्म से आवृत न हो तथा समस्त इन्द्रियों द्वारा एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण का सतत सेवन हो वह भक्ति उत्तम (श्रेष्ठ) भक्ति है ।

'अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसङ्गता ।
भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः'।।

अर्थात् जिस प्रकार का मोह स्त्री, पुत्र और देहादि में होता है उसी प्रकार का मोह भगवान् विष्णु में हो तथा उस मोह में भी प्रियत्व की भावना हो तो उसी को भीष्म, प्रह्लाद, उद्धव एवं नारद आदि भागवताचार्यों ने भक्ति की संज्ञा दी है ।

शास्त्रों में भक्ति की अनेक व्याख्याएँ हैं । देवर्षि नारद जी ने भी प्रस्तुत ग्रन्थ में भक्ति की शास्त्रसम्मत विवेचना की है । उन्होंने भी उस शास्त्रीय निरूपण को ही स्पष्ट किया है । प्राणी यह निश्चय नहीं कर पाता कि भगवान् को हम अपना स्वामी मानें या मित्र, पुत्र मानें या पति । भगवान् की हम किस सम्बन्ध से भक्ति करें । इसके लिए भक्ति की पहचान अति आवश्यक है । भक्ति को भलीभाँति रूप से पहचान कराने के लिए ही देवर्षि नारदजी ने प्रस्तुत भक्तिदर्शन ग्रन्थ की सूत्रशैली में रचना की है ।

आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास है कि यह पदार्थ-भावार्थ युक्त नारदभक्ति-सूत्र नामक ग्रन्थ आपके हाथ में आकर उस परात्पर परब्रह्म ईश्वर के दर्शनों की जिज्ञासा जाग्रत् करेगी और आपका हाथ पकड़कर उनके सान्निध्य में ले जायेगी ।

सम्पादक

नारद-भक्तिसूत्र विषयानुक्रम



नारद-भक्तिसूत्र अनुक्रमणिका

प्रथम अनुवाक

द्वितीय अनुवाक

तृतीय अनुवाक

चतुर्थ अनुवाक

पञ्चम अनुवाक

षष्ठ अनुवाक

दशम अनुवाक





नारदभक्तिसूत्र

।। श्रीः ।।



नारदकृत-

भक्तिसूत्रम्

प्रथम अनुवाक

एक समय श्रीमन्नारायणावतार महर्षि कृष्ण द्वैपायन वेदव्यासजी ने बदरिकाश्रम में निवास करते हुए अपनी इच्छानुसार विचरते-विचरते वहाँ आकर उपस्थित हुए देवर्षि नारद जी को देख उनका विधि-विधान से सत्कार करके पूछा कि—हे देवर्षे ! सुख-दुःख मनुष्य के अधीन नहीं हैं, किन्तु मनुष्य मात्र सुख-दुःख के अधीन हैं, सुख-दुःखमय संसार मनुष्य का बन्धन है, मनुष्य बन्धन को नहीं चाहता, इसलिए अनिच्छित संसारबन्धन से मोक्ष होने की आवश्यकता है; वह मोक्ष उपाय से साध्य है, कर्म मोक्ष का साक्षात् उपाय नहीं माना जा सकता । यद्यपि ज्ञान मोक्ष का साक्षात् उपायस्वरूप गिना जाता है तथापि भक्तिविहीन ज्ञान को शास्त्र अकिञ्चित्कर कहता है—इस कारण परम पुरुषार्थ मोक्ष की एकमात्र साधन रूप भक्ति की व्याख्या कीजिए । तब महर्षि नारदजी कुछ सूत्रों के द्वारा भक्ति की व्याख्या करने लगे । उन नारदकृत भक्तिसूत्रों में पहिला सूत्र यह है —

अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः ॥१॥

अथशब्दो मङ्गलवाचकः, तथा चोक्तम्–"ओङ्कारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा । कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ" ॥ आनन्तर्यवाचको वा अथशब्दः, द्वैपायनप्रश्नानन्तरमित्यर्थः । अतः भक्तेरेव परमपुरुषार्थोपायभूतत्वात् भक्तिं व्याख्यास्यामः भक्तिं तत्त्ववर्णनेन विवृणुमः ।

पदार्थ—कृष्णद्वैपायन के प्रश्न करने के अनन्तर (अतः) एक मात्र भक्ति के ही परम पुरुषार्थ मोक्ष का साधन होने से (भक्तिं) भक्ति को (व्याख्यास्यामः) तत्त्व-वर्णन के द्वारा विस्तार से वर्णन करेंगे ।

भावार्थ—कृष्णद्वैपायन वेदव्यासजी के प्रश्न करने पर देवर्षि नारदजी ने कहा कि—हे महर्षे ! मैं आपके प्रश्न के अनुसार परम पुरुषार्थसाधक परमप्रेमरूपा

भक्ति की व्याख्या करूँगा । आपका अवतार लोकोपकार के ही निमित्त है, आपने मुझसे जो यह भक्ति-विषयक प्रश्न किया है, यह भी लोकोपकार करने के लिए ही है। आपने अपने शिष्य जैमिनि मुनि के द्वारा पूर्वमीमांसा में कर्मजिज्ञासा और स्वयं ही उत्तरमीमांसा में ज्ञान-जिज्ञासा की है । इस समय भक्ति-जिज्ञासा के बहाने से मेरे मुख से भक्ति की व्याख्या करने को प्रवृत्त हुए हो । यद्यपि मैं आपकी आज्ञा से भक्ति की व्याख्या करूँगा परन्तु भक्ति की पूर्ण वास्तविक व्याख्या तो आप स्वयं ही करेंगे । यह मेरा भक्तिसूत्र आपकी उत्तरमीमांसा के अन्तर्गत अति संक्षिप्त भक्तिलक्षण के व्याख्यान के स्थल में सूत्र रूप ही गिना जायेगा । आप स्वयं ही ब्रह्मसूत्र के भाष्यरूप श्रीमद्भागवत में स्वरचित भक्ति-लक्षण के व्याख्यानरूप इन मेरे भक्तिसूत्रों की सविस्तर व्याख्या करेंगे ।। १ ।।

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा ॥ २ ॥

सा व्याख्यातुमारब्धा भक्तिस्तु अस्मिन् विश्वव्यापिनि श्रीमन्नारायणे परमप्रेमरूपा । 'सा कस्मै परमप्रेमरूपा' इत्यपि पाठः । कस्मै परमेश्वराय, परमेश्वरः सदा प्रश्नार्हत्वात्किं शब्देनोच्यते, तथा चोक्तं महाभारते-विष्णुसहस्त्रनामसु नैकः सर्वः सर्वः कः किमिति ।

पदार्थ—(सा तु) हम जिस भक्ति की व्याख्या करेंगे वह तो (अस्मिन्) इस परमेश्वर में (परमप्रेमरूपा) परम प्रेमस्वरूप है ।

भावार्थ—भक्ति शब्द 'भज्' धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाकर बनता है । भज् धातु का अर्थ सेवा करना वा अनुशीलन है। परतत्त्व का रुचिकर भावमय और चेष्टामय अनुशीलन ही भक्ति का स्वरूप लक्षण है । यह अनुशीलन उपाधि रहित हो तो इसको उत्तमा भक्ति कहते हैं । स्वरूपसिद्धा केवल शुद्धा आदि उत्तमा भक्ति के ही नाम हैं । यह उत्तमा भक्ति साध्य और साधन भेद से दो प्रकार की है—एक साध्यरूपा, दूसरी साधनरूपा । साध्य भक्ति प्रेममयी वा भावमयी है और इस साध्य भक्ति को प्रकाशित करने वाली चेष्टामयी भक्ति ही साधन भक्ति है । भाव शब्द का अर्थ रति है । यद्यपि शान्त आदि भेद से रति पाँच प्रकार की है, परन्तु कान्तारति सर्वोपरि है । यह रति भी मिश्रा और केवला दो प्रकार की है । केवला रति मिश्रा रति से स्वाभाविक रूप से ही श्रेष्ठ है, इसीसे सूत्र के परमप्रेम शब्द का अर्थ केवला कान्तारति है अर्थात् केवला कान्तारति वा परमप्रेम भक्ति शब्द का अर्थ है । गोपालतापिनी उपनिषद् की श्रुति कहती है—

"भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैराश्येनामुष्मिन् मनःकल्पनमेतदेतदेव नैष्कर्म्यम्"।

अर्थात् श्रीकृष्ण नामक परतत्त्व का भजन अर्थात् अनुकूल श्रवण आदि की चेष्टारूप अनुशीलन और उस श्रीकृष्ण नामक परतत्त्व में मनःकल्पन अर्थात् अनुकूल श्रवण आदि की चेष्टा युक्त अन्य प्रकार के विश्वास से रहित सजातीय विश्वास का

प्रवाहरूप भावमय अनुशीलन—भक्ति का स्वरूप लक्षण है । उपाधिरहित होना उसका तटस्थ लक्षण है । उपाधि शब्द का अर्थ है—इस लोक की भोगाभिलाष और पारलौकिक मोक्षाभिलाष । भोगाभिलाष का साधन कर्म और मोक्षाभिलाष का साधन ज्ञान हैं । इससे सिद्ध हुआ कि जिस में कर्म का वा ज्ञान का मिश्रण न हो वह भक्ति ही उपाधि रहित तटस्थलक्षणा भक्ति है । कर्म और ज्ञान के मिश्रण बिना भी भक्ति मोक्षकरी है, क्योंकि मोक्ष भक्ति का आनुषंगिक फल सिद्ध होता है । इस प्रकार नारद जी का कहा हुआ भक्ति का लक्षण श्रुति के साथ भी मिलता हुआ है ।। * ।। अनादि परतत्त्व परमात्मा से विमुख होने के कारण माया से आच्छन्न हुआ मनुष्य देह को ही आत्मा मानने के अनन्तर देह के दुःख से मोहित होकर और विषयभोग से खिंचकर संसारचक्र में घूमा करता है । जब स्वयं ही किसी मनुष्य की उन विषयों की ओर को खिंचावट से कुछ एक निवृत्ति होती है उसी समय परातत्त्व की विमुखता दूर होकर परतत्त्व के सन्मुख होने में प्रवृत्ति होती है अर्थात् विषयभोग का आकर्षण होते हुए भी सौभाग्यवश शास्त्र में वर्णित परमेश्वर, आत्मा, परलोक और कर्मफल आदि में विश्वास के साथ उसका चित्त क्रम से अन्तर्मुख होने लगता है । इन्हीं विषयों का विचार धीरे-धीरे बढ़ने लगता है, उस विचार के फल से साधुसङ्ग होता है, उस विचार के द्वारा वैराग्य हाने पर ज्ञानी का संग होता है और उससे उत्पन्न हुए करुणाभाव से भक्त का संग होता है । साधु के ज्ञानी होने पर उसके साथ-साथ भक्ति की इच्छा बलवती होती जाती है और इस प्रकार भक्ति की इच्छा बलवती होने पर दीनता और निरपेक्षता के साथ भजन क्रिया वा परतत्त्वविषयक श्रवण-कीर्त्तनादिरूप अनुकूल चेष्टा का उदय होता है—यह चेष्टा ही साधनभक्ति है । साधन के पक जाने पर अनर्थ की निवृत्ति के अनन्तर निष्ठा आदि के क्रम से भाव प्रकट होता है । भाव का परिपाक हो जाना वा दृढ़ता ही प्रेम है । कान्ताप्रेम ही हमारे प्रेम की पराकाष्ठा है, इस कारण उसको ही परम प्रेम शब्द से कह सकते हैं और वह परम प्रेम ही भक्ति का स्वरूपलक्षण है, अन्य प्रेम उपलक्षण हैं । प्रेम भगवान् की स्वरूपशक्ति की एक वृत्ति है । उसको भगवान् के नित्य सिद्ध सेवक अपनी सम्पत्ति समझते हैं । वह नित्यधाम के नित्य सिद्ध भगवत्पारिषदों की सम्पत्ति होने पर भी श्रीभगवान् के अनुग्रह से देवनदी गंगा के प्रवाह के समान संसार में आकर और शुद्ध जीवों के स्वभाव के साथ एकाकार होकर उनकी स्वाभाविक वृत्ति के रूप में बह रही है । कहा भी है—

"देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम् ।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या।।
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ।
जरयत्याशु या कोषं निगीर्णमनलो यथा"।।

अर्थात् प्रकृति के तीनों गुण जिनकी उपाधि है और वेद-पुराणदि में जिनके

कर्मों का वर्णन है उन तीनों देवताओं में अधिष्ठान के द्वारा सत्त्वगुण का उपकार करने वाले श्रीविष्णु भगवान् में अनन्य चित्त से पुरुष की जो स्वाभाविक वृत्ति होती है अर्थात् अनुकूलतादि रूप एक प्रकार का ज्ञान होता है उसका ही नाम भागवती भक्ति है । वह स्वरूप शक्ति की वृत्ति होने पर भी विषयसौन्दर्य के कारण बिना यत्न के शुभ भक्त के स्वभाव के साथ एकाकार होकर प्रकाशित होने पर ही उसको जीवशक्ति की स्वाभाविक वृत्ति कहते हैं । उसमें किसी फल की अभिलाषा नहीं रहती, वह मोक्षपर्यन्त सब प्रकार की सिद्धियों से बड़ी है । जैसे पेट में की जठराग्नि पेट में पहुँचे हुए सकल पदार्थों को पचाकर जीर्ण कर देती है, वैसे ही वह वृत्ति जीव के अन्नमयादि सकल कोषों को शीघ्र ही जीर्ण कर देती है । भागवती भक्ति स्वरूपशक्ति की वृत्ति है, जीवशक्ति की वृत्ति लौकिकी भक्ति है, यह लौकिकी भक्ति ही स्वाभाविक वृत्ति है । इस वृत्ति के साथ एकाकार होकर प्रकाशित होती है, इसी से भागवती भक्ति को भी जीव की स्वाभाविक वृत्ति कहा है । भक्त और भजनीय का परस्पर सम्बन्ध होने से ही भक्ति का प्रकाश होता है । लौकिकी भक्ति के मूल में लोकसम्बन्ध है और भागवती भक्ति के मूल में भगवत्सम्बन्ध देखने में आता है । लोकसम्बन्ध दास्यभाव आदि स्वरूप है, भगवत्सम्बन्ध भी ऐसा ही है । कितने ही पुरुष समझते हैं कि अलौकिक सम्बन्ध लौकिक सम्बन्ध से अन्य प्रकार का ही होगा, परन्तु हम ऐसा नहीं मानते, क्योंकि लोक परलोक से सर्वथा भिन्न नहीं है, लौकिक संसार अलौकिक संसार के ही अनुरूप है, जीव का संसार भगवत्संसार की ही छाया है । भगवान् ने जैसे जीव को प्रायः अपने सदृश रचा है वैसे ही जीव के संसार को भी अप्राकृत संसार के अनुरूप ही रचा है। केवल वह पूर्ण है, जीव अपूर्ण है; उनका संसार अप्राकृत है, जीव का संसार प्राकृत है । इतना ही भेद होने पर भी परमेश्वर का अंशभूत जीव जिस उपाय के द्वारा प्राकृत संसार में से अप्राकृत संसार में पहुँचेगा वह उपाय प्राकृत और अप्राकृत दोनों के सन्धिस्थान में स्थित है । वह उपाय प्राकृत होकर भी अप्राकृत और अप्राकृत होकर भी प्राकृत है तथा वह प्राकृत और अप्राकृत का एकीभाव रूप है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं हो सकता । यह उपाय ही भक्ति है । भक्ति जीव का नेत्र है, वह ज्ञान का सार विज्ञान है, वह हृदय रूप खान में स्थित स्वच्छ रत्न है । देखने योग्य वस्तु के साथ चक्षु का, जानने योग्य वस्तु के साथ विज्ञान का और क्रय योग्य वस्तु के साथ रत्नादि का जो सम्बन्ध है, भक्ति के साथ भगवान् का वही सम्बन्ध है । जीव भक्ति के द्वारा ही भगवान् को देखता है, जानता और खरीद लेता है। जीव भक्ति की सहायता से ही प्राकृत संसार के साथ भगवत्संसार का सम्बन्ध स्थापन करता हुआ प्राकृत संसार में ही भगवत्संसार को ले आता है अथवा प्राकृत संसार लाँघ कर भगवत्संसार में प्रवेश करता है । इसमें सन्देह नहीं है कि भक्ति परतत्त्व में प्रवेश का प्रथम द्वार है—परतत्त्व में चढ़ने की पहली सीढ़ी है । ऐसा होने पर भी क्या कोई यह कह सकता है कि भक्ति शेष द्वार, भक्ति

अंतिम सोपान वा भक्ति सबसे ऊँची सीढ़ी नहीं है । भक्ति ही आदि है, भक्ति ही अन्त है, वही जीव का सबसे पहिला आलम्बन है और वही जीव का अन्तिम आश्रय है । भक्ति के बिना परतत्त्व के समीप नहीं पहुँचा जा सकता है । परतत्त्व के होने का विश्वास उत्पन्न कराकर भक्ति निवृत्त हो जाती है और वह आगे को नहीं बढ़ सकती—ऐसा समझना भ्रान्ति है । ऐसा विश्वास तो साधारण ज्ञान से ही हो जाता है, जो ज्ञान परतत्त्व के होने का विश्वास कराता है, भक्ति उसका सारांश है । ज्ञान भूयोदर्शन की परीक्षा का फल है, तर्क-युक्ति से ऊपर स्थित है, यह ज्ञान आस्तिक मात्र को होता है, परन्तु यह नियम नहीं है कि कोई आस्तिक होने से ही भक्त हो जाय । भक्ति के वास्तविक अर्थ में बहुत ही थोड़े से आस्तिक देखे गये हैं । श्रीभगवान् का साक्षात्कार, उनके साथ मिलन और उनके संसार में प्रवेश बहुत ही थोड़े आस्तिकों के भाग्य में होता है । क्या हम सबों ने ही भगवान् को देखा है ? यदि नहीं देखा है, यदि हमको उनका साक्षात्कार नहीं हुआ है तो हम कैसे कहें कि हममें भक्ति है और हम परमात्मा के भक्त हैं ? हम निरन्तर अपने सामने जिन पदार्थों को देखते हैं उनके प्रत्यक्ष में क्या हमको कुछ संशय होता है ? जिनको देखने की शक्ति नहीं है उनके सिवाय और कोई भी कभी प्रत्यक्ष में सन्देह नहीं कर सकता, क्योंकि वह हमारा इन्द्रियजन्य ज्ञान है, उसमें तर्क की आवश्यकता नहीं है; हमारी इन्द्रियाँ ही उस ज्ञान की साक्षी हैं, इन्द्रियाँ ही प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। यह प्रत्यक्ष संसार के होने में हमको जैसा विश्वास है, श्रीभगवान् के वा उनके गुणसमूह के होने में क्या हमको वैसा विश्वास है ? इन्द्रियाँ जैसे सकल प्रत्यक्ष पदार्थों का अनुभव करती हैं, हमारा आत्मा क्या उसी प्रकार सच्चिदानन्दमय परमात्मा का प्रत्यक्ष करता है ? हमको ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास है, इस बात को हम मानते हैं—परन्तु यह विश्वास ही भक्ति है—यह बात नहीं मान सकते । विश्वास ही भक्तिराज्य में प्रवेश करने का द्वार है, विश्वास वाला पुरुष ही भक्ति का अधिकारी है । हमारे ज्ञान में परमात्मा का अस्तित्व होने पर भी भक्ति के बिना हमारी आत्मा में परमात्मा का साक्षात्कार नहीं हो सकता । यदि वास्तव में हमको परमपुरुषार्थ को पाने के लिए आग्रह है तो केवल उनके अस्तित्व की धारणामात्र से हमारी तृप्ति कदापि नहीं हो सकती,उसकी सिद्धि के लिए शक्तिमान् लीलामय परमपुरुष का अनुभव होना चाहिए ।

हम परमपुरुषार्थ को साधने के लिए ज्ञान-कर्मादि अनेक साधनों का साधन करते हैं परन्तु भक्ति के बिना सब साधन वृथा हैं, क्योंकि एक भक्ति ही उसका साधन है । हम नियम के साथ धर्मचर्या कर सकते हैं, अनेक अनुष्ठानों में लग सकते हैं, परन्तु भक्ति के सामने वह कुछ भी नहीं हैं । हम सैकड़ों शास्त्रों की आलोचना कर सकते हैं, अनेक नियमों का पालन कर सकते हैं, परन्तु ये सब हमारे परमपुरुषार्थ के साधन में विशेष अनुकूल नहीं हैं । यदि यह हमारे परमपुरुषार्थ सिद्धि में विशेष सहायक होते तो हम बारम्बार खाली हाथों और शून्य हृदय से घर को लौट कर नहीं

आते अर्थात् इन सकल अनुष्ठानों को कर के फिर मायाजाल में जकड़ न जाते और विषयों के अन्धकूप में न गिरते । उधर जिस हृदय में भक्ति का कणमात्र भी उदय हो जाता है वह हृदय फिर कभी शून्य देखने में नहीं आता, उस हृदय वाले को फिर कभी विषयासक्त होते नहीं देखा गया । भक्त के हृदय में किसी दिन भी परमात्मा का पवित्र आविर्भाव दूर नहीं होता है । भक्त के संसार की हर एक वस्तु में परमात्मा की छवि प्रतिबिम्बित होती है । यह ठीक है कि प्रलोभनमयी प्रकृति जीव को सदा अपनी ओर को खींच कर परमात्मा से बहिर्मुख कर देती है, जीव प्रकृति के पर्दे से आवृत होकर चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार देखता है । परन्तु भक्ति का उदय होने पर वह भाव सर्वथा बदल जाता है, उसका उदय होने पर जीव की सभी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं । उस समय प्रकृति का पर्दा अपने आप ही हट जाता है, परमात्मा के प्रकाश से हृदय का घोर अन्धकारमय प्रदेश भी आलोकमय हो जाता है । उस समय दुःखमय संसार सुखमय भासने लगता है, उस समय सब प्रकार के सन्देह और सब प्रकार की वासनाएँ उखड़कर दूर जा पड़ती है । उस समय ज्ञान-कर्मादि आवरण इधर-उधर विच्छिन्न और विध्वस्त हो जाते हैं, भक्ति दूरवर्ती परमात्मा को समीवर्ती कर देती है । वह किसी से न जीते जाने वाले परमात्मा को भक्त के वश में कर देती है । भक्ति का उदय होने पर सभी चेष्टाएँ प्रतिकूलता छोड़कर अनुकूल हो जाती हैं । उस समय संसार में आसक्ति न होने पर भी संसार का विद्वेषरूप वैराग्य हृदय में स्थान नहीं पाता, क्योंकि उस समय संसार का विद्वेषरूप वैराग्य न होने पर भी दीनता और निरपेक्षता के कारण संसार का डरावना आकर्षण न होने से अहंममाभिमानमूलक संसारबन्धन अपने आप ही शिथिल हो जाता है । उस समय उसके चित्त में परमात्मा के सिवाय और किसी को भी स्थान नहीं मिलता, अतः भगवत्संग के लिए भक्ति के सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है । प्रकृति के आकर्षण से जो परमात्मा का विस्मरण हो जाता है वह भक्ति के उदय से दूर हो जाता है, क्योंकि उस समय ईश्वर चित्त-राज्य पर अधिकार जमाकर ही विराजमान होते हैं । यह भक्ति केवल अप्रत्यक्ष परमेश्वर का इस प्रकार का प्रत्यक्ष कराकर ही शान्त नहीं हो जाती है, किन्तु जीव को ईश्वर में और ईश्वर को जीव के हृदय में स्थित करती है । भक्त का हृदय परमात्मा का नित्य निवासस्थान है, इसी से भक्त के हृदय में और किसी को स्थान नहीं मिलता । इन सब कारणों से ही भक्ति के सिवाय जीव का हृदय सहज में शुद्ध करने का और कोई उपाय देखने में नहीं आता, भक्ति का उदय होने से वह अपने आप ही शुद्ध हो जाता है । उस समय दायें-बायें, सामने-पीछे, ऊपर-नीचे सर्वत्र यदि परमेश्वर की मूर्ति का ही दर्शन करने लगा, इसके सिवाय और कुछ भी यदि मेरी चाहना की और चित्ताकर्षण की सामग्री नहीं रही, तब तो स्वयं ही आत्मरक्षा हो गई । डरावने सांसारिक प्रलोभन से मैंने अपनी रक्षा कर ली, यदि जीव परमेश्वर के प्रियतम हाने की भावना नहीं कर सकेगा तो और किसी प्रकार से भी सकल आकर्षणों से समस्त संसार-बन्धनों से नहीं छूट सकेगा और परमपुरुषार्थ की प्राप्ति भी नहीं कर

सकेगा । यदि देह, गेह, विषय, वैभव, माता, पिता, स्त्री, पुरुष, बन्धु, बान्धव आदि सबके विषय का प्रेम परमात्मा को अर्पण नहीं कर सकेगा तो उनको अपना प्रियतम भी नहीं मान सकेगा । जितनी भक्ति होगी उतना ही परमात्मा का ज्ञान होगा और उतनी ही अन्यत्र की आसक्ति कम होगी । इसीलिए देवर्षि नारदजी ने भक्ति का लक्षण किया है कि परमेश्वर में परम प्रेम ही भक्ति है । इसी कारण दैत्यकुलपावन प्रह्लादजी ने श्रीनृसिंहदेव से याचना की थी कि—हे नाथ ! ऐसी कृपा कीजिए कि सकल अविवेकी पुरुषों में जो अनपायिनी प्रीति देखने में आती है, आपके स्मरण आदि में मेरी वह प्रीति ही हृदय में स्थित हो, उस समय वह मेरे हृदय में से दूर न हो, अर्थात् मैं साधनाकाल में सब प्रकार का प्रेम आपको ही अर्पण कर सकूँ ।। २ ।।

अमृतस्वरूपा च ॥ ३ ॥

पदार्थ—(अमृतस्वरूपा च) अमृतस्वरूप भी है ।।

भावार्थ—वह प्ररमप्रेमरूपा भक्ति अमृतरूप है । समुद्रमन्थन के समय निकली हुई, रोग-शोक-जरा-मरणादिनाशक, देवताओं के भोगने योग्य एक परमौषध का नाम अमृत है । भक्ति इसी अमृत के तुल्य है । परमात्मा की लीलारूप समुद्र को मथने से यह प्रेमरूप अमृत उत्पन्न होता है । वह परमात्मा के प्रेमी साधुजनों के भोगने योग्य है, उसके सेवन से सम्पूर्ण भवरोग का नाश होता है । इससे आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों प्रकार के ताप शान्त होते हैं और बार-बार जन्म-मरणादिरूप संसार का आवागमन विलीन होता है । जीव पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधारहित, तृष्णारहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प होता है । इस प्रकार यद्यपि प्राकृत अमृत से इसका बड़ा भारी भेद है, तथापि और कोई दृष्टान्त न होने से इसको प्राकृत अमृत के तुल्य ही कहा है ।। ३ ।।

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवत्यमृतो
भवति तृप्तो भवति ॥ ४ ॥

यत् = प्रेम, लब्ध्वा = प्राप्य, पुमान् = जीवः, सिद्धः = साधनान्तरप्रयोजनरहितः, अमृतः = अमरणधर्मा, तृप्तः = ऐहिके पारलौकिके च सुखे वितृष्णः, भवति = सम्पद्यते ।

पदार्थ—(यत्) जिस भक्ति को (लब्ध्वा) पाकर (पुमान्) जीव (सिद्धः) सिद्ध (भवति) होता है, (अमृतः) अमर (भवति) होता है, (तृप्तः) तृप्त (भवति) होता है ।

भावार्थ—प्राकृत अमृत पाकर ही देवता अपने को सिद्ध, अमर और तृप्त मान लेते हैं । परन्तु वास्तव में देवता उस अमृत से सिद्ध, अमर वा तृप्त नहीं होते; यदि होते तो उन में किसी पदार्थ का अभाव, ईर्ष्या, द्वेष, भय और असन्तोष आदि देखने में नहीं आता परन्तु स्वर्ग में इन सब दोषों का होना चिरकाल से पुराण आदि में प्रसिद्ध है ।

इसके सिवाय वास्तविक ज्ञानी पुरुष स्वर्ग-सुख को त्याज्य, अकिंचित्कर और क्षणभंगुर विचार कर उससे श्रेष्ठ सुख पाने के लिए चेष्टा करते हुए देखने में आते हैं तथा उनका ऐसा करना सफल भी होता है, परन्तु परमात्मा के प्रेम को पाकर कोई भी भक्त अपने को असिद्ध, मृत वा अतृप्त नहीं मानता है । भक्ति का उदय होने पर जीव को और किसी साधन की आवश्यकता नहीं रहती, मुक्ति स्वयं ही आकर उसकी सेवा करती है । उसको परमानन्द की प्राप्ति होती है, इस कारण उसको इस लोक एवं परलोक के किसी सुख-भोग की वासना नहीं रहती है । इस कारण यह मानना होगा कि प्रेमलाभ ही जीव को स्वरूपसम्पदा की प्राप्ति है ।। ४ ।।

यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि
न रमते नोत्साही भवति ॥ ५ ॥

यत् = प्रेम, प्राप्य = लब्ध्वा, किञ्चित् = ऐहिकमामुष्मिकं वा वस्तु, न वाञ्छति = न अभिलषति, न शोचति = न चिन्ताकुलो भवति, न द्वेष्टि = नान्यत्र रमते, नान्यार्थमुत्साही = उद्युक्तः भवति।

पदार्थ—(यत्) जिस प्रेम को (प्राप्य) पाकर (किञ्चित्) कुछ (न) नहीं (वाञ्छति) चाहता है, (न) नहीं (शोचति) शोक करता है, (न) नहीं (द्वेष्टि) द्वेष करता है, (न) नहीं (रमते) आसक्त होता है, (न) नहीं (उत्साही) उत्साहवाला (भवति) होता है ।

भावार्थ—इस संसार में सुख पाने के लिए बहुतों को अनेकों प्रकार का कर्म करते देखते हैं, परन्तु उन कर्मों को करके भी किसी को शान्ति पाते नहीं देखते और यह आशा भी नहीं है कि उनमें से कोई शान्ति पा जाय । उधर भगवत्प्रेमी को अवश्य ही शान्ति मिलती है, क्योंकि इच्छा-द्वेषादि मन में हुआ करते हैं, परन्तु भक्ति का उदय होने पर मन तो भगवान् के चरणों में अर्पित और विलीन हो जाता है । इस प्रकार जब मन की क्रिया और चेष्टा ही न रही तब शोक, मोह, आसक्ति, उत्साह आदि मन की तरंगें अपने आप ही विलीन हो जायेगीं ।। ५ ।।

यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवत्यात्मारामो भवति ॥ ६ ॥

केवलं कर्मत एव श्रैष्ठ्यं किन्तु ज्ञानतोऽपि ज्यैष्ठ्यमित्याह–यदिति । यत् = प्रेम, ज्ञात्वा = अनुभूय, मत्तः = उन्मत्तः, स्तब्धः = निश्चेष्टः, आत्मारामः = आत्मारतः भवति ।

पदार्थ—(यत्) जिस प्रेम को (ज्ञात्वा) अनुभव करके (मत्तः) उन्मत्त (भवति) होता है, (स्तब्धः) चेष्टारहित (भवति) होता है, (आत्मारामः) आत्माराम (भवति) होता है ।

भावार्थ—प्रेम भक्त में अन्धापन नहीं लाता है, किन्तु जीव को अपने स्वरूप का अनुभव कराकर रागोन्मत्त, अन्य विषयों में उद्योग रहित और आत्माराम कर

देता है अर्थात् जब भक्त के हृदय में प्रेम का उबाल उठता है उस समय उसका शरीर रोमाञ्चित, नेत्र अश्रुओं से पूर्ण और स्वर गद्‌गद हो जाता है । भक्त जिस समय निर्लज्ज के समान ऊँचे स्वर से गाता है और नाचता है उस समय प्रेतबाधा वाले पुरुष के समान विकट हास्य करता और चिल्लाता है । कभी बारम्बार लम्बी-लम्बी श्वासें लेकर "श्रीकृष्ण ! नारायण! वासुदेव!" आदि नामों का उच्चारण करता है । कभी मग्न हुए जड़ के समान निश्चल बैठ जाता है और कभी अपने मन में स्वयं ही मतवाला होकर परमानन्द को भोगता है । यही बात श्रीमद्भागवत में भक्तशिरोमणि प्रह्लादजी ने दैत्यपिता को उपदेश देते समय कही है कि—

"निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान् वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि ।
यदातिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्गदं प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति ।।
यदि ग्रहग्रस्त इव क्वचिद्धसत्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम् ।
मुहुः श्वसन् वक्ति हरे जगत्पते नारायणेत्यात्मगतिर्गतत्रपः ।।
तदा पुमान् मुक्तसमस्तबन्धनस्तद्भावभावानुकृताशयाकृतिः ।
निर्दग्धबीजानुशयो महीयसा भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम्" ।।

अर्थात् भक्तजन भगवान् के अनेकों लीला करके धारण किये हुए स्वरूपों के कर्म, अनुपम गुण और पराक्रमों को सुनकर जब हर्ष से पुलकित नेत्रों में आनन्दाश्रु भरे हुए गद्गदकण्ठ हो जाते हैं उस समय बड़े ऊँचे स्वर से गाते, नाचते और रोते हैं । कभी प्रेतग्रस्त मनुष्यों के समान हँसते और चिल्लाते हैं, कभी बार-बार लम्बी साँसें लेकर हरे ! नारायण! जगत्पते ! आदि नाम लेते हुए लज्जा को छोड़कर कीर्त्तन करते हैं । जब ऐसी गति हो जाती है तब जीव बन्धनों से छूट कर भगवान् की भक्ति में भर उनकी लीला के अनुकरण, चेष्टा आदि करने लगता है और भक्ति के प्रभाव से सुकर्म-दुष्कर्मों के बीजों को जलाकर भगवान् को प्राप्त हो जाता है । उस परम प्रेमरूपा भक्ति को पाने का यही लक्षण है कि मनुष्य पागल-सा, निश्चेष्ट और आत्माराम अर्थात् संसार के विषयों में प्रीति छोड़कर ईश्वर में सदा ही रमण करता है । यद्यपि जीव ज्ञान की प्राप्ति से भी आत्माराम हो सकता है, परन्तु वास्तविक आत्माराम प्रेमी भक्त ही है, क्योंकि ज्ञानियों को भी भगवान् के गुणों से आकृष्ट होकर भगवान् में अहैतुकी भक्ति की स्थापना करने की चेष्टा करनी पड़ती है। ज्ञान बिना तरंगों के समुद्र के समान है, ज्ञानी प्रेमसागर की तरंगों में आन्दोलित होने के लिए यत्न करते हैं, परन्तु प्रेमी भक्त को और कुछ यत्न नहीं करना पड़ता । वह सदा ही भगवान् की लीलारूपी तरंगों में स्नान करता हुआ उसमें ही उन्मत्त, उससे अन्य विषयों में चेष्टारहित और उसमें ही तृप्त रहकर आत्माराम शब्द को सार्थक करता है ।। ६।।

द्वितीय अनुवाक

सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात् ॥ ७ ॥

सा = परमप्रेमरूपा भक्तिः, कामयमाना = मनस्कामनापूरणार्थं सकामा न यतो निरोधरूपा ।

पदार्थ—(सा) वह भक्ति (निरोधरूपत्वात्) निरोधस्वरूप होने से (कामयमाना) किसी कामना को पूर्ण करने के लिए सकाम (न) नहीं है ।।

भावार्थ—प्रेम साध्यरूप साधन का फल है । श्रवण आदि प्रेमसाधन हैं । प्रेम, श्रवण आदि साधन भक्ति के द्वारा साध्य होने पर भी प्रेमसाधनीभूता भक्ति को सकाम नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सब प्रकार की फलकामनाओं का त्याग रूप निरोध साधन-भक्ति में प्रवेश करने का द्वार है। जब फलत्याग ही जिसमें प्रवेश करने का द्वार है, फल को ईश्वरार्पण करना ही जिसका प्राण है तब वह कदापि सकाम नहीं हो सकती । फल को पाने के उद्देश्य से किया हुआ कर्म ही सकाम होता है, यज्ञादि कर्म फल के उद्देश्य से किये जाते हैं, इसी से सकाम कर्म कहलाते हैं । कामनाओं को पूरी करने के लिए भक्ति करना तो केवल वणिग्वृत्ति (लौकिक व्यापार) है । भगवान् ने नृसिंह मूर्ति में प्रकट होकर भक्त प्रह्लाद जी से कहा था कि—हे बेटा! वर माँगो, इस पर प्रह्लादजी ने हाथ जोड़कर उत्तर दिया कि—

"यस्तु आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्"।

अर्थात् हे प्रभो! मैं व्यापारी नहीं हूँ, मैं तो आपका भक्त हूँ । जो पुरुष आप से सेवा के बदले में इस लोक वा परलोक का विषयसुख चाहता है वह आपका सेवक नहीं है, किन्तु लेन-देन करने वाला व्यापारी है और यदि आप वर देना ही चाहते हैं तो यह कृपा कीजिए कि मेरे चित्त में राज्यभोग वा स्वर्गीय सुखभोग आदि किसी विषय की वासना उत्पन्न न हो । यही बात भगवान् ने कही भी है कि—

"न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते ।
भर्जिताः क्वथिता धाना भूयो बीजाय नेष्यते"।।

अर्थात् जिन्होंने अपनी बुद्धियाँ मुझमें ही लगा दी हैं उनकी इच्छा किसी विषयफल को नहीं चाहती, क्योंकि भूने वा पकाये हुए धानों से अंकुर नहीं उग सकता । इस प्रकार जब कि इन्द्रियों से भोग्य किसी भी ऐहिक वा पारलौकिक सुख को पाने की इच्छा से की हुई प्रीति को भी हम प्रेम नहीं कह सकते तब जो लोग स्वार्थवश किसी से प्रीति करके यह कहते हैं कि हम प्रेम करते हैं—उनको लज्जित होना चाहिए, क्योंकि वास्तव में प्रेम उसको ही कहते हैं जिसमें कोई कामना न हो । इन्द्रिय, मन और प्राण आदि के निरुद्ध अर्थात् बाहरी व्यापार से हटे बिना वास्तविक प्रेम वा भक्ति का उदय नहीं होता। चित्त आदि की वृत्ति अपने-अपने स्थान में रुक जाने पर भोग की वासना उठती ही नहीं, इस निष्काम अवस्था में ही अन्तःकरण में भक्ति का प्रवाह

विष्णुपादोदकी गंगा के समान प्रबल वेग के साथ बहने लगता है । अथवा भगवान् की कृपा, सद्गुरु की कृपा और अपना सौभाग्य—इन तीनों डोरियों की बट लग जाने पर जीव का संसार की ओर बढ़ना बँध जाता है और भगवान् के भावसूत्र में निरुद्ध हो जाता है । यह निरोध छः प्रकार का है अर्थात् परमात्मा में छः प्रकार की भावना करने से जीव का चित्त संसार की ओर से हट कर परमात्मा की ओर जाकर ठहरने लगता है । वह छः भावना वा निरोध इस प्रकार हैं—*पहिला* भीतिभावनिरोध अर्थात् संसार की यन्त्रणा और वासनाओं से व्याकुल होकर भगवान् की शरण लेना । *दूसरा* स्वाभिमाव-निरोध अर्थात् भगवान् ही जगत् के प्रभु हैं, मैं उनका दास हूँ—इस प्रकार भगवान् की शरण लेना । *तीसरा* स्वाभिमान-निरोध अर्थात् छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े जगत् के चेतन सभी पदार्थ ईश्वर हैं; पिता, माता, भ्राता, पुत्र, स्त्री, पुरुष, शत्रु, मित्र सभी ईश्वर हैं—ऐसा समझकर सर्वत्र उनकी ही झाँकी करना । *चौथा* सख्यभाव-निरोध अर्थात् विपत्ति में, सम्पत्ति में, सुख में, दुःख में सदा ही परमात्मा मेरे सहायक हैं, वह दीनबन्धु हैं—ऐसे सखाभाव से उनका अनुगामी होना । *पाँचवाँ* वात्सल्यभाव-निरोध अर्थात् पुत्र के समान प्राणों को मूर्तिमान् कर उनका आदर कर तन्मयता के साथ स्नेह करना और *छठा* कान्तभाव-निरोध अर्थात् मेरे मन की प्रकृति नारी है और भगवान् पुरुष-पति हैं—इस भाव से उनमें मग्न हो जाना । इनमें से किसी एक निरोध के अधीन हो जाने पर जीव की कामनाएँ अपने आप ही रुक जाती हैं और अपने आप हृदय में परमात्मा का आविर्भाव होता है । जो सर्वत्र से मन को हटा कर उनको भजेंगे उनके सकल दुःख दूर होकर परमानन्द की प्राप्ति होगी ही । यही बात भगवान् ने गीता में अर्जुन से कही है कि—

"कौन्तेय ! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्"।।

अर्थात् भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! निश्चय रखो कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता, क्योंकि अपने भक्तों का मृत्यु-संसारसागर से उद्धार करने वाला मैं हूँ ।।७।।

निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः ॥ ८ ॥

लौकिकानां वैदिकानाञ्च व्यापाराणां = कर्मणां, न्यासः = त्यागः निरोध इत्युच्यते ।

पदार्थ—(निरोधःतु) निरोध तो (लोकवेदव्यापारन्यासः) लौकिक और वैदिक सकल व्यापारों का त्याग है ।

भावार्थ—अन्तःकरण और इन्द्रियों की सकल वृत्तियों के बाहरी चेष्टा को त्याग देने पर अथवा ईश्वर की शरणागत होकर मनुष्य की अन्य चेष्टाएँ न रहने पर लौकिक व्यवहार वा वैदिक व्यवहार किसी कर्म में भी भक्त की प्रवृत्ति नहीं होती । भक्त निष्क्रिय और धर्म-अधर्म के अनुष्ठान से रहित होता है । इसी से कहते हैं कि आहार-

विहार आदि लौकिक कार्य और यज्ञ आदि वैदिक कार्य के त्याग को निरोध कहते हैं । यहाँ कर्म के त्याग से कर्मफल का त्याग समझना, क्योंकि सब प्रकार के कर्म का सर्वथा त्याग होना तो असम्भव है, इसलिए फल की कामना रहित कर्मानुष्ठान का नाम ही निरोध है । वास्तविक ईश्वरभक्त का कोई कर्म स्वार्थ के लिए नहीं होता, किन्तु परार्थ एवं भगवत्प्रसन्नतार्थ होता है । इसी से भक्त के निष्काम कर्म को ही निरोध कहा जा सकता है ।।८।।

तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च ॥ ९ ॥

तस्मिन् = प्रेमसाधने, अनन्यता = तन्मयता, तद्विरोधिषु = विषयेषु, उदासीनता = अप्रवृत्तिश्च निरोध इत्युच्यते ।

पदार्थ—(तस्मिन्) उस प्रेम साधन में (अनन्यता) अनन्य भाव (च) और (तद्विरोधिषु) उसके विरोधी विषयों में (उदासीनता) प्रवृत्ति न होना ।।

भावार्थ—निरोध शब्द का अर्थ केवल कर्मफल का त्याग ही नहीं है, किन्तु प्रेमसाधन में अनन्यता और प्रेमसाधन के विरोधी विषयों में प्रवृत्त न होना भी है । क्योंकि केवल कर्मफल के त्याग से प्रेमलाभ नहीं हो सकता, किन्तु प्रेम को पाने के लिए कर्मफल के त्याग के साथ प्रेमसाधन में अनन्यता और उसके विरोधी विषयों में प्रवृत्ति रहित भी होना चाहिए। कर्मफलत्याग का अर्थ यह है कि कर्म का फल भगवान् को अर्पण करना, यह फलार्पण भी एक कर्म है और इसको आरोपसिद्धा भक्ति में गिना जाता है । जो भक्ति न होकर भी भक्ति के लिए एक प्रकार का फल उत्पन्न कर के भक्ति के आकार में दीखने लगता है । उस कर्म को ही आरोपसिद्धा भक्ति कहा है। ईश्वर को फल का अर्पण करना रूप कर्म स्वयं भक्ति न होकर भी भक्ति के फल चित्तशुद्धि को उत्पन्न करके भक्ति के आकार में दीखने लगता है । इसीसे इसको आरोपसिद्धा भक्ति कहते हैं ।।९।।

अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता ॥ १० ॥

अन्येषां = सकलानामाश्रयाणां त्यागोऽनन्यतेत्युच्यते ।

पदार्थ—(अन्याश्रयाणाम्) अन्य आश्रयों का (त्यागः) त्याग (अनन्यता) अनन्यता है ।

भावार्थ—केवल एकमात्र प्रेम-साधन श्रवण आदि साधन भक्ति का आश्रय लेकर उससे अन्य सकल आश्रयों को त्याग देना अनन्यता है, इस कारण अनन्यता शब्द का अर्थ है—शरणागत होना ।।१०।।

लोकवेदेषु तदनुकूलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनता ॥ ११ ॥

लोकेषु वेदेषु च, तदनुकूलाचरणं = प्रेमसाधनानुकूलाचरणं, तद्विरोधिषूदासीनतेत्युच्यते ।

पदार्थ—(लोकवेदेषु) लोक और वेद में (तदनुकूलाचरणम्) प्रेमसाधन के

अनुकूल आचरण करना (तद्विरोधिषु उदासीनता) उसके विरोधियों में उदासीनता है ।

भावार्थ—यदि प्रेम और उसके साधनों के प्रतिकूल जो राग-द्वेष, अभिनिवेश आदि अनेकों अनर्थ हैं—उनसे उदासीन होना हो तो एकनिष्ठा के साथ चिरकाल से प्रचलित लौकिक सद्व्यवहार और वेदविहित धर्मानुष्ठान रूप भगवद्भाव के अनुकूल आचरण करना होगा । विहित कर्मों का अनुष्ठान किये बिना राग-द्वेषादि से उदासीनता नहीं हो सकती और विहित कर्मों का अनुष्ठान निष्काम भाव और एकनिष्ठा रखते रहो तो भगवद्भाव के प्रतिकूल कार्यमात्र में अपने आप अनास्था और उदासीनता हो जायेगी ।। ११।।

भवतु निश्चयदार्ढ्यादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम् ॥ १२ ॥

निश्चयस्य = श्रद्धायाः, दार्ढ्यात् = दृढतायाः, ऊर्ध्वं = परम्, यदि केनचित् शास्त्रमर्यादापालनं, शास्त्रोक्तकर्मानुष्ठानं क्रियते, तत् करोतु, नास्ति तत्र प्रत्यवायः, श्रद्धादार्ढ्यात्पूर्वन्तु शास्त्रविहितकर्मानुष्ठानमवश्यमेव कर्त्तव्यम् ।

पदार्थ—(निश्चयदार्ढ्यात्) निश्चयबुद्धि दृढ होने से (ऊर्ध्वम्) आगे (शास्त्ररक्षणम्) शास्त्रमर्यादा की रक्षा (भवतु) होय ।

भावार्थ—भगवान् की उपासना करते-करते जब तक एकनिष्ठा रूप श्रद्धा अविचल न हो तब तक शास्त्र में लिखे हुए अपने अधिकारानुसार विहित और निषिद्ध कर्मों की ओर अवश्य ध्यान रख कर चलें, क्योंकि भक्ति की अपरिपक्व दशा में कर्मानुष्ठान पर अश्रद्धा करने से मन की मलिनता दूर नहीं हाती और वह मलिनता भक्ति को प्रबल नहीं होने देती । भक्तिसाधन सिद्ध होने पर कर्मनिष्ठा अपने आप ही निवृत्त हो जाती है, इस कारण उस समय कर्म न करने से प्रत्यवाय नहीं होता और यदि कोई भक्ति का अधिकारी अपने अधिकार को दृढ़ करने के लिए फिर भी कर्म का अनुष्ठान करे तो उसमें कोई दोष भी नहीं है ।। १२।।

अन्यथा पातित्यशङ्कया ॥ १३ ॥

अन्यथा = निश्चयदार्ढ्यात्पूर्वं विहितकर्मानाचरणे च, पातित्यस्य = भक्तिसाधनविच्युतेः, शङ्कास्ति, अतः श्रद्धादृढत्वमाशास्त्ररक्षणमावश्यकम् ।

पदार्थ—(अन्यथा) ऐसा न करने में (पालित्यशङ्कया) साधन से च्युत होने का सन्देह है, इस कारण ।

भावार्थ—जैसे वृक्ष के नये पौधे के मूल में जल न देने से उसका सूख जाना सम्भव है, वैसे ही भक्तिरूप लता के मूल में कर्मरूप जल से बिना सींचे उसके विनष्ट हो जाने की शंका है । इस कारण भक्ति को दृढ़ करने के लिए शास्त्रविहित कर्म का अनुष्ठान अवश्य ही करना चाहिए।। १३।।

लोकोऽपि तावदेव किन्तु भोजनादिव्यापारस्त्वा-
शरीरधारणावधि ॥ १४ ॥

लोकः = लोकाचारोऽपि, तावदेव = निश्चयदृढत्वपर्यन्तमेव, भोजनादिव्यापारः तु, आशरीरधारणावधि = यावत्कालं शरीरधारणं तावत्कालपर्यन्तमेव।

पदार्थ—(लोकःअपि) लोकाचार भी (तावदेव) तब तक ही है (किन्तु) परन्तु (भोजनादिव्यवहारःतु) भोजन आदि का व्यवहार तो (आशरीरधारणावधि) शरीरधारण पर्यन्त है ।

भावार्थ—लोकाचार-मर्यादा का नियम भी श्रद्धा के दृढ़ता होने तक ही है, श्रद्धा दृढ़ हो जाने पर लोकमर्यादा की रक्षा न की जाय तो कोई हानि नहीं है, किन्तु भोजनादि रूप लौकिक व्यवहार तो शरीर-धारण पर्यन्त होगा ही । यह नियम आश्रमी अधिकारियों के लिए है कि वह स्वधर्माचरण के द्वारा लोकमर्यादा की रक्षा करें । परिनिष्ठित अधिकारी को भी लोकशिक्षा के लिए लौकिक सदाचार का पालन करना चाहिए, परन्तु निरपेक्ष अधिकारी के लिए कोई नियम नहीं है । वह लौकिक कर्माचरण के बिना शरीर धारण न कर सके तो लौकिक कर्मों का आचरण करे और यदि लौकिक कर्मानुष्ठान के बिना ही शरीर धारण कर सके तो वह उसको भी त्याग सकता है । कितने की लोग शंका करते हैं कि जब खाना-पीना आदि कर्म ही न छूटा तो जीवन में कर्मत्याग ही क्या हुआ? इस शंका को दूर करने के लिए ही इस सूत्र की रचना है । भोजनादि व्यवहार शरीररक्षा मात्र के लिए है, भोजनत्याग का नाम कर्मत्याग नहीं है । यदि ऐसा होता तब तो विष खाकर मर जाने से भोजन का त्याग होकर कार्यसिद्धि हो जाती । इस कारण यहाँ कर्म कहने से सकाम पारलौकिक कर्म लेना चाहिए, जब तक वासना का क्षय न हो तब तक ही लौकिक और पारमार्थिक कर्म का अनुष्ठान करे और जब वासना का क्षय हो जाय तब "को विधिः को निषेधः" उसके लिए कोई विधि-निषेध नहीं है । भक्त बिल्वमङ्गलाचार्य ने तो भक्ति में तन्मय होकर यहाँ तक कह दिया कि—

"सन्ध्यावन्दनभद्रमस्तु भवते भो स्नान तुभ्यं नमो,
भो देवाः पितरश्च तर्पणविधौ नाहं क्षमः क्षम्यताम् ।
यत्र क्वापि निषद्य यादवकुलोत्तंसस्य कंसद्विषः,
स्मारं स्मारमघं हरामि तदलं मन्ये किमन्येन मे" ।। १४ ।।

तृतीय अनुवाक

तल्लक्षणानि वाच्यन्ते नानामतभेदात् ॥ १५ ॥

तस्याः = भक्तेः, लक्षणानि, नानामतभेदात् = नानामतेषु ये भेदास्ताननुसृत्य, वाच्यन्ते = निरूप्यन्ते ।

पदार्थ—(तल्लक्षणानि) उस भक्ति के लक्षण (नानामतभेदात्) अनेकों मतों के भेद से (वाच्यन्ते) कहे जाते हैं ।

भावार्थ—भक्ति में वास्तव में कोई भेद न होने पर भी भिन्न-भिन्न ऋषियों के सम्प्रदायानुसार साधनगत भेद से भक्ति के भिन्न-भिन्न लक्षण कहेंगे । इस सूत्र में एक सन्देह हो सकता है कि यह वास्तव में सूत्र नहीं है, क्योंकि—''स्वल्पाक्षरमसन्दिग्धं सूत्रम्'' अर्थात् जिस में वर्णनीय विषय संक्षेप से और निःसन्देह भाव से कहा हो, उसको ही सूत्र कहते हैं । भक्तिलक्षण तो कहेंगे ही अतः प्रतिज्ञा को सूत्र नहीं कह सकते, सो यह सन्देह करना ठीक नहीं है, क्योंकि वास्तव में यह सूत्र वक्तव्यविषय की प्रतीक्षा का बोधक नहीं है । किन्तु लोक में जो पिता, माता, बन्धु, बान्धव, स्त्री-पुत्रादि में प्रेमभाव दीखता है, वह वास्तविक प्रेम नहीं है । शास्त्रोक्त प्रेम और उसके जो महात्मा अनेकों प्रकार के लक्षण करते हैं उसकी ओर ध्यान दिलाना ही इस सूत्र का लक्ष्य है ।। १५ ।।

पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः ॥ १६ ॥

पूजादिषु = भगवदर्चनादिषु, अनुरागः = भक्तिः इति, पाराशर्यः = पराशरोक्तः सम्प्रदायविशेषः ।

पदार्थ—(पूजादिषु) पूजा आदि में (अनुरागः) अनुराग (इति) यह (पाराशर्यः) पराशरमुनि का कहा सम्प्रदाय विशेष है ।

भावार्थ—जिस वृत्ति का उदय होने पर भगवान् की पूजा आदि में अनुराग उत्पन्न हो वह वृत्तिविशेष ही भक्ति का स्वरूप है । वह साध्यरूप है और अनुराग के साथ भगवत्पूजन आदि उसका साधन है । इस प्रकार वास्तव में कुछ मतभेद नहीं है ।। १६ ।।

कथादिष्विति गार्गः ॥ १७ ॥

कथादिषु भगवद्गुणकर्मश्रवणादिषु अनुरागः भक्तिः इति गार्गः गर्गोक्तः सम्प्रदायविशेषः ।

पदार्थ—(कथादिषु) कथा आदि में (अनुरागः) अनुराग (इति) ऐसा (गार्गः) गर्ग मुनि का कहा सम्प्रदायविशेष है ।

भावार्थ—जिस वृत्ति का उदय होने पर भगवान् के गुणानुवाद को सुनना और सुनाना भी सकल साधनों का सार है—ऐसा जानकर उसमें गाढ़ अभिनिवेश और श्रद्धा उत्पन्न हो वह वृत्ति ही भक्ति है; ऐसा गर्ग ऋषि का मत है । यह वृत्ति साध्य है और अनुराग के साथ भगवान् की कथा का श्रवण आदि उसका साधन है, अतः मूल में कोई भेद नहीं है ।। १७ ।।

आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः ॥ १८ ॥

आत्मरत्यविरोधेन = यथा आत्मरतेर्हानं न स्यात्तथा भगवदर्चनादिषु अनुरागः = भक्तिः इति शाण्डिल्यो मनुते ।

पदार्थ—(आत्मरत्यविरोधेन) आत्मरति के अविरुद्धरूप से (इति) ऐसा (शाण्डिल्यः) शाण्डिल्य मुनि मानते हैं ।

भावार्थ—परम प्रेम ही भक्ति का स्वरूप है, पूजादि उसका साधन है । इस कारण जिस प्रकार की पूजादि से प्रेम की हानि न हो उस पूजादि में अनुराग ही अनुकूल साधन है । सांसारिक विरोध को छोड़कर एक आत्मचैतन्य में ही सकल अस्तित्व की आहूति देकर पूर्णानन्द में मग्न होना ही आत्मरति वा परमप्रेम है । इस आत्मरति में जिस प्रकार बाधा न आवे, जो उपाय आत्मरति के अनुकूल हो उसके द्वारा जिस प्रेममयी वृत्ति का प्रवाह बहे उसको ही शाण्डिल्य मुनि ने भक्ति माना है । इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षणों में कहने की शैली मात्र का भेद दीखने पर भी अर्थ में एकता है । सार यह है कि भगवान् का परमप्रेम ही भक्ति है और जिसके द्वारा यह परमप्रेम अबाध रूप से प्रकाशित हो वही उसका साधन है, इस विषय में किसी से मतभेद नहीं है । अतएव पूर्वोक्त सब ऋषियों के मत को आगे रखकर देवर्षि नारदजी कहते हैं कि ।। १८ ।।

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारतातद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ॥ १९ ॥

यस्याः वृत्तेरुदये "यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् । यत्तपस्यति कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्" ॥ इति भगवदुक्ताचारतत्परता तद्विस्मरणे च परमव्याकुलता भवेत् सा वृत्तिर्भक्तिरिति तु नारदस्याभिमतम् ।

पदार्थ—(नारदः तु) नारद तो (तदर्पिताखिलाचारता) अपने सकल कर्म भगवान् को अर्पण करने का स्वभाव (तद्विस्मरणे) उनके विस्मरण में (परमव्याकुलता) अत्यन्त व्याकुल होना (इति) ऐसा मानते हैं ।

भावार्थ—जिस वृत्ति का उदय होने से सब कर्म भगवान् में अर्पित हों और उनके विस्मरण में परम व्याकुलता हो वह वृत्ति ही भक्ति का स्वरूप है । परमप्रेम ही ऐसी वृत्ति है, समस्त कर्म भगवान् को अर्पण करना ही उसका साधन है । कर्म दो प्रकार के होते हैं—लौकिक और पारलौकिक । पारलौकिक में इतना करना चाहिए कि तुम कुटुम्ब का पालन करो, अतिथिसेवा करो, याग-यज्ञ करो, तपस्या आदि किसी भी कर्म का अनुष्ठान करो, उसको ईश्वरार्थ वा ईश्वरपूजनार्थ समझ कर उसका फल ईश्वर को अर्पण करते हुए करो । उस समय जी खोलकर कहो कि—

"प्रातरुत्थाय सायाह्नं सायाह्नात्प्रातरन्ततः ।
यत्करोमि जगन्नाथ तदेव तव पूजनम्"।।

प्रातःकाल से उठकर सायंकाल पर्यन्त और सायंकाल से फिर प्रातःकाल

पर्यन्त जो कुछ कार्य करता हूँ हे भगवन् ! वह सब आपका ही पूजन है । लौकिक में यह कर्त्तव्य है कि कार्य करते समय यदि भगवान् को भूलकर "मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ" ऐसा मिथ्या अभिमान होने लगे तो जब तक फिर भगवान् को हृदय का स्वामी न बना सको तव तक यदि उनके विरह की पीड़ा से तुम्हारा चित्त परम व्याकुल होने लगे तो समझो कि परमप्रेमरूपा वृत्ति का उदय हुआ । इस प्रकार पारलौकिक कर्म तो भगवान् को अर्पण करने से निवृत्त हुए और लौकिक कर्मों में अभिनिवेश होने पर व्याकुलता हुई तो वह अपने आप ही छुट जायेंगे अर्थात् लौकिक व पारलौकिक कर्मों की प्रवृत्ति से छुटकर अन्तःकरण में अनवच्छिन्न तैलधारा के समान भगवद्भाव की वृत्ति का प्रवाह बहने लगे, निरन्तर भगवत्प्रेम में चित्त मग्न रहे, जरा भी विस्मरण होने पर परमव्याकुलता होने लगे यही भक्ति का लक्षण है ।। १९ ।।

अस्त्येवमेवम् ।। २० ।।

पदार्थ—(एवम् , एवम्) यह इस प्रकार ही (अस्ति) है ।।

भावार्थ—श्रीभगवान् को समस्त कर्म अर्पण करना और उनके विस्मरण में परमव्याकुलता होने के दृष्टान्त भी हैं । यह केवल कल्पना नहीं, यही बात दिखाते हैं— ।। २० ।।

यथा व्रजगोपिकानाम् ।। २१ ।।

व्रजगोपिकानाम् आचरणं, यथा—अत्र दृष्टान्तः ।।

पदार्थ—(यथा) जैसे (व्रजगोपिकानाम्) व्रज की गोपियों का (दृष्टान्त है) ।। २० ।।

भावार्थ—नन्दनन्दन श्रीकृष्ण ही भगवान् हैं, गोप और गोपियाँ उनकी स्वरूप-शक्तियाँ हैं, राधिका प्रधान गोपी है और सब गोपियाँ राधिका का कायव्यूह हैं । गोपियों का प्रेम श्रीभगवान् की स्वरूपशक्ति की ह्लादिनी अंश की प्रधानतावाली शुद्ध सत्त्वरूप वृत्ति है । यह प्रेमरूपा वृत्ति गोपियों की स्वाभाविकी थी, अतएव गोपियों के सकल कर्म नित्य भगवान् को अर्पित होते थे, व्रजगोपिकाओं के सभी कर्म भगवान् के लिए थे । जब रासमण्डल में भगवान् ने वंशी बजाकर गोपियों को बुलाया उस समय जिस प्रकार सब कर्मों को त्याग कर अनन्य मन से वंशी की ध्वनि की ओर ध्यान लगाये हुए वन की ओर गईं—उसको पढ़ने से यही बात सिद्ध होती है कि भगवान् के विरह में गोपियों का परम व्याकुल होना किसी से छुपा नहीं है । भगवान् के दर्शन के बिना क्षण भर का समय भी उनको सैंकड़ों युग-सा मालूम होता था । भगवान् को बिना देखे जिनको ऐसी व्याकुलता होती थी उनका विस्मरण होने पर व्याकुलता का तो कहना ही क्या? प्रिय वस्तु का दर्शन होने पर उसका स्मरण ही प्रेमी का अवलम्बन होता है, दैवात् यदि विस्मृति हो जाय तो कैसी व्याकुलता होगी, इस बात को तो भुक्तभोगी ही

समझ सकते हैं । गोपियों की यह व्याकुलता भी स्वाभाविक थी । वास्तव में वृन्दावन-विहारिणी गोपियाँ प्रेमभक्ति की पराकाष्ठा दिखा गई हैं, तभी तो नारदजी ने भक्ति के उदाहरण-सूत्र में गोपियों का नाम लिया है । वास्तव में प्रेम में मग्न होकर जो मद्यप मतवाले के समान घर, संसार, ऐश्वर्य, मान, प्रतिष्ठा और लोकलज्जा आदि सबको त्याग कर उनकी ही परम भक्त थीं, उनकी महिमा को कौन कह सकता है ? भगवान् ने स्वयं ही कहा है कि—

"न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या मा भजन् दुर्जरगेहशृङ्खलां संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना" ।।

अर्थात् हे व्रजदेविओ! यदि मैं देवताओं की आयु धारण करूँ और वैसी अनेकों कल्पों की आयु से तुममें से एक का भी प्रतिउपकार करना चाहूँ तो नहीं कर सकूँगा, क्योंकि महादुर्जर घर की जंजीर को तुम्हारे सिवाय कौन तोड़ सकता है ? भगवान् ने उद्धवजी से भी कहा था कि—

"ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः ।
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः ।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम् ।।
मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः ।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः ।।
धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन ।
प्रत्यागमनसन्देशैर्वल्लभ्यो मे मदात्मिकाः"।।

अर्थात् हे उद्धव! गोपियों ने अपना मन मुझमें ही अर्पण कर दिया है, मैं ही उनका प्राण हूँ, मेरे निमित्त उन्होंने अपने-अपने शारीरिक व्यवहार तक को त्याग दिया है, जिन्होंने मेरे लिए लौकिक व्यवहार और धर्म के विधि-निषेध तक को तुच्छ कर रखा है उनकी रक्षा मैं ही करता हूँ । गोपियाँ मुझे अपने परम प्यारों से भी प्यारा समझती हैं, मेरे दूर रहने से मुझे स्मरण करती हुई वह विरह की परमपीड़ा से व्याकुल होकर अपने शरीर तक की सुध भूल जाती हैं । मेरे बिना वह बड़े क्लेश से प्राण धारण करती हैं, मेरे फिर लौटकर आने के संदेश से ही वह प्राणों को धारण कर रही हैं । मैं ही उन व्रजगोपियों का आत्मा हूँ और वह मेरी है । ऐसी गोपियों के प्रेम की महिमा से श्रीमद्भागवत आदि धर्मग्रन्थों का अधिकतर भाग भूषित है, उसको भक्तजन उन ग्रन्थों में ही पढ़े । प्रेमभक्ति के प्रचारक श्रीगौराङ्गदेव ने भी अपने संन्यासनिर्णय ग्रन्थ में गोपी तथा गोपों का विरहानुभव प्राप्त होने की अपनी उत्कण्ठा दिखाई है और गोपियों को प्रेममार्ग का गुरु माना है । यथा—

"यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनाञ्च गोकुले ।
गोपिकानां तु यद्दुःखं तद्दुःखं स्यान्मम क्वचित् ।।

गोकुले गोपिकानां च सर्वेषां व्रजवासिनाम् ।
यत्सुखं समभूत्तन्मे भगवान् किं विधास्यति ।।
उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा ।
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित्''।।

इत्यादि गोप-गोपियों के प्रेम की थाह कौन पा सकता है ? ।। २१।।

न तत्रापि माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः ॥ २२ ॥

तत्रापि = परमप्रेम्णि अपि, माहात्म्यज्ञानस्य विस्मृतिरूपोऽपवादो नास्ति।

पदार्थ—(तत्रापि) उस दशा में भी (माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः) माहात्म्यज्ञान न होने का अपवाद (न) नहीं है ।

भावार्थ—अनेकों का यह विश्वास है कि—गापियों का भगवान् में प्रेम था, परन्तु वह भगवान् के माहात्म्य को नहीं जानती थी अर्थात् श्रीकृष्ण को भगवद्दृष्टि से नहीं देखती थीं । परन्तु जब गोपियों को यह कहते हुए सुनते हैं कि—''मैवं विभोऽर्हति भवान्गदितुं नृशंसम्'', ''अस्त्येवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा'', ''व्यक्तं भवान् व्रजभयार्त्तिहरोऽभिजातः'', ''न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्' इत्यादि; तब हम कैसे विश्वास कर लें कि—गोपियाँ उनको भगवान् नहीं मानती थीं ।। २२।।

तद्विहीनं जाराणामिव ॥ २३ ॥

तेन = माहात्म्यज्ञानेन, विहीनं = शून्यं प्रेम, जाराणामिव = उपपतीनामिव, न चिरं स्थायि भवति ।

पदार्थ— (तद्विहीनम्) माहात्म्यज्ञान से हीन प्रेम (जाराणाम् इव) उपपतियों के समान (होता है) ।

भावार्थ—जहाँ माहात्म्य का ज्ञान नहीं होता वहाँ की प्रीति जारों की-सी होती है। व्यभिचारिणी स्त्रियाँ जारों से प्रेम करती हैं, परन्तु उनका वह प्रेम चिरकाल पर्यन्त नहीं रह सकता, क्योंकि जार साधारण मनुष्य है । साधारण मनुष्य में कुछ माहात्म्य है—यह भावना नहीं होती, अतः उसके ऊपर का प्रेम चिरकाल तक नहीं ठहरता । जिसमें प्रेम किया है, व्यभिचारिणी जब उसके माहात्म्य को भूल जाती है और जब दूसरा जार उससे महान् मालूम होने लगता है उसी समय पहिले जार में किया हुआ उसका प्रेम नष्ट हो जाता है । भगवान् के साथ भक्त का ऐसा भाव नहीं होता । भक्त समझता है कि भगवान् से बड़ा कोई है ही नहीं, इसी से भक्त के प्रेम को भगवान् के सिवाय और कोई पा ही नहीं सकता । भक्त का प्रेम चिरकाल रहता है, उसका नाश होता ही नहीं ।। २३।।

नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखसुखित्वम् ॥ २४ ॥

तस्मिन् = जारप्रेम्णि, तत्सुखसुखित्वं–तस्य = जारस्य, सुखेन सुखित्वं नास्ति, एव।

पदार्थ—(तस्मिन्) उस जारप्रेम में (तत्सुखसुखित्वम्) प्रियतम के सुख से सुखी होना (न एव) नहीं ही (अस्ति) है ।

भावार्थ—विशेष कर उपपति के प्रेम में तत्सुखसुखित्व देखने में नहीं आता । व्यभिचारिणी स्त्रियाँ काम के वशीभूत होकर अपना सुख साधने के लिए ही जार में प्रेमभाव दिखाती हैं । उनके इस प्रेम में उपपति के सुख में सुख नहीं हो सकता, परन्तु भगवत्प्रेम ऐसा नहीं होता । आत्मकाम भगवान् में भी स्वार्थ नहीं है और भगवत्प्रीतिमात्र की कामना वाले भक्त में भी और कोई स्वार्थ नहीं है । भक्त के प्रेम में ही भगवान् सुखी हैं और भगवत्प्रेम में ही भक्त सुखी है । ममतारहित शान्त भक्त सकल प्राणियों में दयाभाव रखने में ही भगवत्प्रीति समझते हैं और ममतायुक्त गौरव भावमय दासभक्त दास्यभाव में ही भगवत्प्रीति मानते हैं । ममतायुक्त अनुग्रह-भावमय वात्सल्य भक्त भगवान् की वात्सल्य सेवा में ही भगवत्प्रीति मानते हैं और ममतायुक्त अपने सुख के तात्पर्य से रहित सम्भोग-तृष्णा वाले कान्ताभक्त कान्तसेवा में ही भगवत्प्रीति मानते हैं । सार यह है कि भगवत्प्रीति में ही सब भक्तों की प्रीति है । गोपियाँ भगवत्प्रेमिका थीं, कामुका नहीं थीं । वे भगवान् कृष्ण से प्रेम करती थीं, काम के वशीभूत होकर इन्द्रियों को तृप्त करने के लिए उनको नहीं चाहती थीं । प्रेम और वस्तु है, काम और वस्तु है; मेरे द्वारा दूसरा सुखी हो और दूसरे के द्वारा मैं सुखी होऊँ, ऐसे मन के वेग का नाम प्रेम है और दूसरे के द्वारा मुझे सुख मिले, इसका नाम काम है । गोपियाँ अपने मन-प्राण पर्यन्त को भगवान् को सुखी करने की सामग्री समझती थीं, व्रज की प्रेमलीला आश्चर्यमयी प्रेमलीला थी । गोलोक की गोप्यलीला मृत्युलोक में अभिनीत हुई थी ।। २४ ।।

चतुर्थ अनुवाक

सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा ॥ २५ ॥

सा = परमप्रेमरूपा भक्तिः तु, कर्मतो ज्ञानतोऽपि अधिकतरा =श्रेष्ठतरा।

पदार्थ—(सा तु) वह परमप्रेमरूपा भक्ति तो (कर्मज्ञानयोगेभ्यः अपि) कर्म, ज्ञान और योग से भी (अधिकतरा) परम श्रेष्ठ है ।

भावार्थ—भक्ति भगवान् की स्वरूपशक्ति की वृत्ति है । वृत्ति शब्द का अर्थ है क्रिया, स्वरूपशक्ति की क्रिया स्वरूपशक्ति की ही सम्पत्ति है । इस सम्पत्ति का सोता भगवती गङ्गा के प्रवाह के समान मृत्युलोक में भी बह रहा है । जैसे गंगा का प्रवाह भगीरथ के खात में ही बहता है, वैसे ही भक्ति का प्रवाह भी भक्तिसम्प्रदाय में ही बहता

हुआ देखने में आता है । जो उसके अनुगामी बनकर भक्तिसम्पदा को चाहते हैं वे ही उसको पाते हैं । कर्मी, ज्ञानी और योगियों के सम्प्रदाय में भक्ति का लाभ नहीं हो सकता, क्योंकि भक्ति उन सम्प्रदायों की सम्पत्ति नहीं है । भक्तिरूपा सम्पत्ति तो कर्म, ज्ञान और योग आदि सब सम्पत्तियों में श्रेष्ठ है । कर्म का फल भुक्ति, ज्ञान का फल मुक्ति और योग का फल सिद्धि है । मुक्ति, भुक्ति और सिद्धि की कामना वालों को शान्ति नहीं होती है । भक्ति का फल शान्ति है और भक्त शान्त होते हैं । भक्ति का फल तृप्ति है, भक्त तृप्त होते हैं । भक्ति का फल प्रीति है, भक्त प्रेमी होते हैं । अतएव भक्ति सब से श्रेष्ठ है ।। पहिले कर्म दो प्रकार के हैं—विहित और निषिद्ध । जगत् के अमंगलकारी इस लोक और परलोक में अपने को व्याकुल करने वाले पापरूप कर्म का नाम निषिद्धकर्म है । जगत् का और अपना मंगल करने वाले पुण्यरूप कर्म का नाम विहितकर्म है । निषिद्धकर्म को करने से मृत्यु होने पर प्रेतदशा के अनन्तर नरकगति होती है, प्रेतलोक के नीचे का प्रान्त ही नरकलोक है । समुद्र के वक्षःस्थल से चन्द्रलोक पर्यन्त ऊपर-ऊपर स्थित होने के अनन्तर-अनन्तर के सूक्ष्म द्वीप नामक भूतल के कोष ही प्रेतलोक हैं । प्रेत शब्द का अर्थ है मृत । निषिद्ध-कर्म करनेवाले को नरकभोग के अन्त में फिर पृथ्वी पर आकर कर्मानुसार शरीर धारण करना पड़ता है । निषिद्ध-शारीरिक कर्म से स्थावरशरीर, निषिद्ध वाचिक कर्म से पक्षी आदि का तिर्यक्शरीर और निषिद्ध मानस कर्म से नीचजाति का मानव देह मिलता है। विहित कर्म भी दो प्रकार का है—एक सकाम और दूसरा निष्काम । फल की कामनावाले कर्म का नाम सकाम कर्म है । सकाम कर्म भी तीन प्रकार का है—सात्त्विक, राजस और तामस । तामस -विहित कर्म करने वाले की प्रेतदशा के अनन्तर विलस्वर्ग में गति होती है। भूगर्भ में पातालपुरी विलस्वर्ग है । राजस-विहित कर्म करने वाले की भुवर्लोक में गति होती है । चन्द्रमण्डल से सूर्यमण्डल पर्यन्त जगत् ही भुवर्लोक है । सात्त्विक-विहित कर्म करने वाले की प्रेतत्व के अनन्तर स्वर्ग में गति होती है । सौरजगत् से आगे समस्त प्राकृत लोकों का साधारण नाम स्वर्ग है । स्वर्गभोग के अनन्तर फिर पृथिवी पर आकर कर्मानुरूप स्थान प्राप्त होता है । सात्त्विक कर्माधिकारी की कर्मभूमि भारतवर्ष में और सकाम कर्माधिकारी की भोगभूमि अन्य वर्षों में जन्म होता है । भारतवर्ष से अन्य वर्षों का साधारण नाम भौमस्वर्ग है । स्वर्ग से च्युत हुए जीवों का वासस्थान होने से ही भौमस्वर्ग कहा जा सकता है । स्वर्ग के चार भाग हैं—गृही का स्वर्ग इन्द्रलोक, ब्रह्मचारी का स्वर्ग महर्लोक और जनलोक, वानप्रस्थ का स्वर्ग तपोलोक, संन्यासी का स्वर्ग ब्रह्मलोक व सत्यलोक से प्रकृति के आवरण तक । सत्यलोक से परे क्षिति आदि आवरणों का नाम भुवनकोष है । पूर्वोक्त तामस आदि तीन प्रकार के विहित कर्मों का आचरण करने वालों का ही भोग के अन्त में इस लोक में फिर आना शास्त्रों में सुना जाता है । उनमें तामसविहिताचारी तामस ज्ञान वा तामस भक्ति के अधिकारी होते हैं

राजसविहिताचारी राजस ज्ञान वा राजस भक्ति के अधिकारी होते हैं और सात्त्विक विहिताचारी सात्त्विक ज्ञान वा सात्त्विक भक्ति का अधिकार पाते हैं । मोह से उत्पन्न ज्ञान वा भक्ति तामस है, विषय से उत्पन्न ज्ञान वा भक्ति राजस है और आत्मा से उत्पन्न हुआ ज्ञान वा भक्ति सात्त्विक है । सात्त्विक ज्ञान और सात्त्विक भक्ति के अधिकारी की निष्काम कर्म में प्रवृत्ति होती है । सात्त्विक ज्ञानी निष्काम कर्म वा कर्मयोग के द्वारा चित्तशुद्धि के अनन्तर मोक्षफल को पाते हैं । मुक्त को कर्म का बन्धन नहीं है । सात्त्विक भक्त निष्काम कर्म वा भक्तियोग के द्वारा चित्तशुद्धि के अनन्तर भगवत्प्रेम रूप सम्पदा को पाते हैं । भगवत्प्रेमी को कर्मबन्धन नहीं है । मुक्त और भक्त दोनों ही स्थूल, सूक्ष्म और कारण इस तीन प्रकार के जीवकोष से मुक्त होकर प्रकृति के उस पार चले जाते हैं; इन दोनों को फिर कर्मसूत्र में नहीं बँधना पड़ता है । मुक्त और भक्त दोनों का ही कर्मसूत्र जीवकोष में बँधकर इस लोक में नहीं आना पड़ता है । मुक्त पुरुष अपने अस्तित्व को परब्रह्म के अस्तित्व में मिला कर शान्त होते हैं और भक्त अपने को भजनीय भगवान् के अधीन करके भजनीय परम पुरुष को आत्मसमर्पण करके शान्ति-सुख को भोगते हैं । सिद्ध शरीर को न ग्रहण करने वाले मुक्त निष्क्रिय अवस्था में विलीन हो जाते हैं । सिद्ध शरीर को प्राप्त हुआ भक्त अनन्त काल तक श्रीभगवान् की सेवा में तत्पर रहता है । भक्त का कर्मबन्धन न होने पर भी उनका कर्मप्रवाह विच्छिन्न नहीं होता है, वह भगवत्कर्म के सहकारी होते हैं । स्वरूपानुभव का साधनभूत ज्ञान तीन प्रकार का है — ब्रह्मज्ञान, परमात्मज्ञान और भगवद्ज्ञान । "सोऽहम्" अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ —इस ज्ञान का नाम ब्रह्मज्ञान है । मैं जीवात्मा अन्तर्यामी परमात्मा का अंश हूँ—यह परमात्मज्ञान है। मैं शक्ति हूँ, शक्तिमान् परमेश्वर की शक्ति का अंश हूँ—इस ज्ञान का नाम भगवद्ज्ञान है । ब्रह्मज्ञान का फल बह्मसायुज्य वा सद्योमुक्ति और परमात्मज्ञान का फल परमात्मसायुज्य वा क्रममुक्ति है ।

योग शब्द से कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग और अष्टांगयोग—ये चार योग लिये जाते हैं । कर्मयोग निष्काम कर्म का नाम है । कर्मयोग के फल में स्वतन्त्रता नहीं है, वह ज्ञान का अङ्गीभूत होकर चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञान के फल मोक्ष को और भक्ति का अङ्गीभूत होकर चित्तशुद्धि के द्वारा भक्ति के फल को उत्पन्न करता है । यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—इन आठ के समूह का नाम अष्टांग-योग है । कर्मयोग के समान अष्टांगयोग का फल भी स्वतन्त्र नहीं है । यह भी ज्ञान का अङ्गीभूत होकर चित्त की एकाग्रता के द्वारा ज्ञान के फल मोक्ष को और भक्ति का अङ्गीभूत होकर भक्ति के फल प्रेम को उत्पन्न करता है ।

भक्ति भी तीन प्रकार की है - गुणीभूता, प्रधानभूता और केवला । कर्म, ज्ञान वा योग ही जिसका प्रधान अंग है और किसी फल की प्राप्ति के लिए भक्ति केवल जिसका आनुषंगिक अंग है, उसका ही नाम गुणीभूता भक्ति है । गुणीभूता का दूसरा

नाम सकाम भक्ति है, इसका फल सिद्धि और भक्ति है । कामना वाले और आर्त्त पुरुष इसके अधिकारी हैं । भक्ति जिसका प्रधान अंग है और कर्म, ज्ञान वा योग जिसके सहायक मात्र हैं, उसका नाम प्रधानीभूता भक्ति है । प्रधानीभूता भक्ति का दूसरा नाम मिश्रा, निष्कामा वा सात्त्विकी भक्ति है । यह भक्ति फिर तीन प्रकार की है—कर्ममिश्रा, ज्ञानमिश्रा और योगमिश्रा । मुमुक्षु पुरुष ही सबका अधिकारी है । कर्ममिश्रा भक्ति का फल ज्ञानमिश्रा भक्ति वा ज्ञानयोग और योगमिश्रा भक्ति वा अष्टांगयोग है । ज्ञानयोग का फल सद्योमुक्ति है । अष्टांगयोग का फल क्रममुक्ति है । कर्ममिश्रा भक्ति का दूसरा नाम आरोपसिद्धा भक्ति है । कर्ममिश्रा भक्ति के अङ्गरूप निष्काम कर्म, भक्ति का कार्य जो चित्तशुद्धि जिसके द्वारा भक्ति का आरोप होने पर भक्ति रूप सिद्ध होते हैं अर्थात् भक्ति न होकर भी कुछ एक भक्ति के आकार वाले प्रतीत होते हैं—इससे आरोपसिद्धा भक्ति कहे जाते हैं । ज्ञानमिश्रा और योगमिश्रा भक्ति का दूसरा नाम संगसिद्धा भक्ति है । ज्ञानमिश्रा भक्ति की अंगभूत सात्त्विक क्रियाएँ भक्ति के साथ होकर भक्ति के फल ब्रह्म-साक्षात्कार और परमात्मसाक्षात्कार के द्वारा भक्ति के किसी अंश के आकार में प्रतीत होने लगती हैं इसी कारण उसको संगसिद्धा भक्ति कहते हैं । केवला भक्ति इनसे सर्वथा भिन्न है । केवला भक्ति का दूसरा नाम निर्गुणा वा स्वरूपसिद्धा भक्ति है । कर्म-ज्ञानादि इसके अधीन हैं । यह कर्म-ज्ञानादि के अधीन नहीं है, किन्तु सर्वथा स्वाधीन है । यह स्वाधीनभाव से ही कर्म का फल जो चित्तशुद्धि एवं ज्ञान और योग का फल जो मोक्ष है—इन सबों के साथ अपने फल भगवत्प्रेम और उसके साक्षात्कार आदि को देती है । इस कारण भक्ति सब से श्रेष्ठ है ।। २५ ।।

फलरूपत्वात् ॥ २६ ॥

फलरूपा अस्ति अतोऽपि श्रेष्ठा ।

पदार्थ—(फलरूपत्वात्) फलस्वरूप होने से (श्रेष्ठा) श्रेष्ठ है ।

भावार्थ—भक्ति स्वयं फलरूप है, इस कारण सबसे श्रेष्ठ है । ज्ञानाभिमानी कहते हैं कि—भक्ति साधन है और ज्ञानरूप उसका फल है, सो यह ठीक नहीं है; क्योंकि भगवद्गीता में लिखा है कि—

"अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् "।।

इसमें भगवान् ने दिखाया है कि ज्ञान,कर्म और योगरूप साधन से मनुष्य अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध को त्यागकर निर्मल, शान्त, ब्रह्मात्मज्ञानयुक्त, परमानन्दपूर्ण होकर शोक-कामना आदि से रहित और सब प्राणियों में समदर्शी हो जाता है तब भगवान् की पराभक्ति को पाता है। सब साधनों का एक यही फल है कि

भगवान् की बिना कृपादृष्टि हुए भक्ति सिद्ध नहीं होती । इस कारण भक्ति सब साधनों का फलरूप होने से सर्वश्रेष्ठ है ।। २६ ।।

ईश्वरस्याप्यभिमानिद्वेषित्वाद्दैन्यप्रियत्वाच्च ॥ २७ ॥

ईश्वरोऽपि अभिमानिद्वेष्टा दैन्यप्रियः अतोऽपि भक्तेः श्रेष्ठत्वम् ॥

पदार्थ—(ईश्वरस्य अपि) ईश्वर के भी (अभिमानिद्वेषित्वात्) अभिमानी का द्वेषी होने से (च) और (दैन्यप्रियत्वात्) दीनता का प्रिय होने से ।

भावार्थ—कर्म, योग और ज्ञान के साधन काल में साधक के चित्त में उन साधनों का अभिमान होने पर उस अभिमानी से परमेश्वर प्रसन्न नहीं होते । भगवान् तो एक मात्र दीनों के बन्धु, पतितों के उद्धारकर्त्ता और निर्धनों के सर्वस्वधन हैं; वह अभिमानी के कोई नहीं हैं । ठीक ही है, जिनको अपने साधनों का भरोसा है उनको वह क्यों पूछेंगे? जो स्त्री अपनी सुन्दरता और जारों के द्वारा धनोपार्जन करती है उसको पति क्यों पूछे ? जो बालक स्वतः अपनी जीविका कर लेने का अभिमानी है उसकी ओर माता-पिता का ध्यान क्यों होगा ? जो सेवक अपना निर्वाह स्वतः ही कर लेने का अभिमानी है उसके स्वामी को क्या चिन्ता ? विशेष कर परमेश्वर जैसे स्वामी को जिसको सदा दीन ही प्यारे हैं, उसके सामने तो जब सब साधनों को छोड़ अनन्यभाव से कहोगे कि—

"सर्वसाधनहीनस्य पराधीनस्य सर्वथा ।
पापापीनस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम" ।।

अर्थात् हे कृष्ण ! मैं सर्वसाधनों से हीन सर्वथा पराधीन हूँ, पापों से पिसा हुआ और परमदीन हूँ; हे नाथ ! अब तो मेरी गति आप ही हैं —तभी वह तुम्हारी ओर ध्यान देंगे । क्योंकि उनकी विरद है कि—

"तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्" ।

अर्थात् अपने शरणागतों को मैं भगवसागर से उबारता हूँ । इस कारण जो दीन भाव रखते हैं कि वही भगवान् के प्रीतिपात्र हैं । मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं मुक्त हूँ, मैं सिद्ध हूँ—ऐसा समझना ही अहंकार का परिचय देता है । उनको फिर परमेश्वर को भी मानने की आवश्यकता नहीं दीखती और वह परमेश्वर को मान भी नहीं सकते, इस कारण वह अवश्य ही उनके द्वेषी हैं । जो परमेश्वर के विद्वेषी हैं वे उनके प्रियपात्र कभी नहीं हो सकते किन्तु उलटे वह असुरों में ही गिने जाते हैं । जो असुर स्वभाव के होते हैं उनके हृदय में ही वैसे अभिमान का उदय होता है । जब तक यह अहंकार विनष्ट नही होगा तब तक देवस्वभाव का उदय न होने से परमेश्वर का प्रीतिपात्र नहीं हो सकता । दैन्यबुद्धि का उदय होने पर ही अहंकार का विलय होता है । अन्य साधनों की अपेक्षा न करके केवल परमेश्वर की कृपा को ही आत्मसमर्पण किये बिना इस दैन्यबुद्धि का उदय नहीं होता । निरपेक्षभाव सहित शरणागति ही अहंकार को नष्ट करती है, वही शुद्ध भक्ति की एक अवस्था है । अतएव शुद्धा भक्ति सबसे श्रेष्ठ है ।। २७।।

तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके ॥ २८ ॥

तस्याः = भक्तेः, ज्ञानमेव साधनम्, इति एके = केचित् वदन्ति ।

पदार्थ—(तस्याः) उसका (साधनम्) साधन (ज्ञानम् एव) ज्ञान ही है (इति) ऐसा (एके) कोई कहते हैं ।

भावार्थ—किन्हीं के मन में ज्ञान ही भक्ति का साधन है, परन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि गृध्र, गजेन्द्र आदि को कौन ज्ञान सीखाने आया था ? उन्होंने केवल भक्ति के साथ भगवान् को पुकारा ही था, इसी से भगवान् का साक्षात् दर्शन पा गये । भगवान् ने कहा भी है—

"केवलन हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः ।
येऽन्यं मूढधियो नागा सिद्धा मामीयुरञ्जसा"।। २८।।

अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये ॥ २९ ॥

अन्योन्याश्रयत्वं = ज्ञानभक्त्योः परस्पराश्रयत्वम्, इति अन्ये = केचित् वदन्ति ।

पदार्थ—(अन्योन्याश्रयत्वम्) परस्पराश्रयपना है (इति) ऐसा (अन्ये) दूसरे कहते हैं ।।

भावार्थ—दूसरे कोई-कोई कहते हैं कि ज्ञान भक्ति के आश्रय और भक्ति ज्ञान के आश्रय है । सो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि भक्ति का उदय हो जाने पर ज्ञानतत्त्व की जिज्ञासा का उदय ही नहीं होता है ।। २९।।

स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः ॥ ३० ॥

स्वयं स्वया एव फलरूपता इति सनत्कुमारनारदादयो ब्रह्मकुमारा मन्वते ।

पदार्थ—(स्वयम्) आप (फलरूपता) फलरूपपना (इति) ऐसा (ब्रह्मकुमाराः) ब्रह्मकुमार मानते हैं ।

भावार्थ—सनत्कुमारादि और नारदजी का मत है कि भक्ति स्वयं ही फल है और स्वयं ही उस फल का साधन है । नित्य सिद्ध भगवान् के प्रेमरूप भक्ति का कोई साधन है ही नहीं, श्रवणादि से शुद्ध हुए चित्त में उसका उदय अपने आप ही हो जाता है । श्रवण आदि भक्ति के अङ्ग ही क्रम से परिपक्व होकर भावरूप में और भात अपनी गाढ़ता में प्रेम रूप से प्रकाशित होता है ।

राजगृहभोजनादिषु तथैव दृष्टत्वात् ॥ ३१॥

राज्ञां = नृपतीनां, गृहेषु = भवनेषु च भोजनादिव्यापारेषु च तथैव दृष्टत्वात् ।

पदार्थ—(राजगृहभोजनादिषु) राजद्वार और भोजन आदि में (तथैव) वैसा ही (दृष्टत्वात्) देखा है इस कारण ।

भावार्थ—राजद्वार (राजदरबार) और भोजनादि में ऐसा ही देखा है, जिसको अगले सूत्र में उदाहरण देकर दिखाते हैं ।। ३१।।

न तेन राजपरितोषः क्षुधाशान्तिर्वा ॥ ३२ ॥

तेन = बोधमात्रेण, राजपरितोषः = भूपतेः तुष्टिः, क्षुधाशान्तिः = बुभुक्षानिवृत्तिः न भवति ।

पदार्थ—(तेन) ज्ञान से (राजपरितोषः) राजा की प्रसन्नता (वा) या (क्षुधाशान्तिः) भूख की शान्ति (न) नहीं होती ।।

भावार्थ—भक्ति ज्ञान का फलरूप नहीं है, इस बात को दृष्टान्त देकर सिद्ध करते हैं कि—मान लो, तुमने जान लिया कि राजा धनवान् , सौम्य, दयालु, धर्मात्मा और प्रजा को प्रसन्न रखने वाला है तो क्या तुम्हारे इतना जान लेने मात्र से राजा सन्तुष्ट हो जायेगा अर्थात् तुमको राजज्ञान हो जाने से राजा की तृप्ति नहीं हो सकती तथा घी, शर्करा आदि से मिष्टान्न बनता है—इस बात को केवल जान लेने से ही क्या तुम्हारी भूख दूर हो जायेगी ? कदापि नहीं होगी । ऐसे ही केवल भगवान् के स्वरूप को जान लेने मात्र से जीव का कर्त्तव्य सिद्ध नहीं होता, इसी से अगले सूत्र में फिर कहते हैं कि ।। ३२।।

तस्मात् सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः ॥ ३३ ॥

तस्मात्कारणात् मुमुक्षुभिः = मोक्षाभिलाषिभिः, सैव = भक्तिरेव, ग्राह्या = स्वीकार्या ।

पदार्थ—(तस्मात्) उससे (मुमुक्षुभिः) मुमुक्षुओं द्वारा (सा एव) वही (ग्राह्या) ग्रहण करने योग्य है ।

भावार्थ—इस कारण सकल प्रकार की उपाधियों से मुक्ति चाहने वालों को इस भक्ति का ही आश्रय करना चाहिए । तात्पर्य यह है कि सूत्रकार ने अनेकों प्रकार का विचार कर के सिद्धान्त किया है कि—कर्म, योग और ज्ञान मुक्ति के साधन हैं तो भी उनमें अनकों विघ्न होना सम्भव है । मुक्ति पाने के लिए—भगवान् का दर्शन करने के लिए भक्ति ही निर्मल मार्ग है, इसी से जीवों के ऊपर करुणा करके उन्होंने भक्तिसाधन में प्रवृत्ति दी है । मुक्ति भक्ति का मुख्य फल नहीं है, किन्तु भक्तिसाधना के मार्ग में बढ़ने पर मार्ग में मुक्ति स्वतः आ पहुँचती है। मुक्ति पा जाने के अनन्तर भी भक्ति का मार्ग दूर तक फैला हुआ है । स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीन प्रकार की उपाधि से मुक्ति पाने के लिए मुमुक्षु को पृथक् साधन नहीं करना पड़ता है, भक्ति ही समस्त परमार्थ को दे देती है ।। ३३।।

पञ्चम अनुवाक

तस्याः साधनानि गायन्त्याचार्याः ॥ ३४ ॥

आचार्याः = शाण्डिल्यादयः, तस्याः = भक्तेः साधनानि, गायन्ति = कीर्त्तयन्ति ।

पदार्थ—(आचार्याः) आचार्य (तस्याः) उस भक्ति के (साधनानि) साधनों को (गायन्ति) कीर्त्तन करते हैं ।

भावार्थ—यद्यपि प्रेम नित्यसिद्ध है, उसका कोई कारण नहीं है तथापि प्रेम-भक्ति को पाने के उपाय-स्वरूप कुछ साधन आचार्यों ने कहे हैं ।। ३४।।

तत्तु प्रेम विषयत्यागात् तत्सङ्गत्यागाच्च ॥ ३५ ॥

तत् प्रेम तु विषयत्यागात् तत्सङ्गत्यागाच्च प्राप्यते ।

पदार्थ—(तत् तु) वह प्रेम तो (विषयत्यागात्) विषय के त्याग से (च) और (सङ्गत्यागात्) सङ्ग के त्याग से ।

भावार्थ—विषयत्याग का अर्थ है—विषयभोगत्याग और विषयसङ्गत्याग का अर्थ है—विषयासक्ति को त्यागना । विषयों का आकर्षण बड़ा ही प्रबल है, विषयों को त्यागना बड़ा ही कठिन है । किसी प्रकार विषय छूट भी जायें तो विषयों का संग नहीं छूटता । यम-नियम आदि के अभ्यास और वैराग्य के द्वारा धीरे-धीरे विषय और विषयों के संग का त्याग किया जा सकता है । परन्तु विषय और विषयों के संग को छोड़ने का एक सहज उपाय भगवान् में भक्ति करना है । ऐसा करने से ही विषयों से वैराग्य और निःसङ्गता होकर परमप्रेमरूपा भक्ति सिद्ध होती है ।। ३५।।

अव्यावृतभजनात् ॥ ३६ ॥

अव्यावृतभजनात् = निरन्तरभजनात् विषयतत्सङ्गत्यागपूर्वकं प्रेम लभ्यते ।

पदार्थ—(अव्यावृतभजनात्) निरन्तर भजन करने से ।

भावार्थ—निरन्तर भगवान् का भजन अर्थात् भगवान् के गुण-नाम आदि का श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण करना चाहिए । क्योंकि भजन से अवकाश पाते ही मन रजोगुण और तमोगुण में प्रवेश करने लगता है । उस समय विषयचिन्ता मन को भुला देती है, इसलिए निरन्तर भजन करे । निरन्तर भजन करने से उसमें वृत्ति जम जाती है, तब स्वतः ही विषय और उनका संग छूटकर इन्द्रियों सहित मन भगवान् के चरणों में जा लगता है और चित्त शुद्ध हो जाता है । उस शुद्ध चित्त में क्रम से प्रेम का आविर्भाव होता है । इसी से श्रीवल्लभाचार्य जी ने कहा—

"तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम ।
वदद्भिरेव सततं स्थातव्यमिति मे मतिः"।।

अर्थात् इस कारण नित्य निरन्तर 'श्रीकृष्णः शरणं मम' कहा करे, ऐसा मेरा मत है। आपने भक्तिवर्द्धिनी ग्रन्थ में भी कहा है कि—

"अव्यावृतो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः"।

अर्थात् श्रवण-कीर्त्तनादि पूजा के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण का निरन्तर भजन करे। ऐसा न समझे कि जैसे नित्य भोजनादि करते हैं ऐसे ही थोड़ी देर को यह भी सही, किन्तु इसको निरन्तर करो। इसका यह भाव नहीं है कि शरीरयात्रा के व्यवहारों को छोड़ दो, किन्तु निर्वाह के लौकिक व्यवहार करते हुए जब उनसे अवसर पाओ तब और कोई व्यर्थ काम न करके भगवान् का स्मरण करो, क्योंकि निरन्तर भगवत्स्मरण से चित्तशुद्धि होकर भक्ति प्रकट होती है, तभी तो श्रीकृष्णचैतन्यदेव ने कहा है कि—

"चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं
श्रेयःकैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम्।
आनन्दाम्बुधिवर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तनम्"।।

जो मनोरूप दर्पण की मलिनता को दूर करता है, जो संसाररूप भयानक दावानल को बुझाता है, जो परममंगल रूप कुमुद को खिलाने के लिए चाँदनी देता है, जो विद्यावधू को जीवनदान देता है, जो सुखसमुद्र को बढ़ाता है, जो पग-पग पर पूर्ण अमृत जैसा स्वाद देता है और जो आत्मा को प्रेमसागर में स्नान कराता है। वह श्रीकृष्णकीर्त्तन सर्वोत्कर्ष से विराजमान है।। ३६।।

लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्त्तनात्।। ३७।।

भगवतो गुणानां श्रवणकीर्त्तनादिभ्यः चित्तशुद्धौ प्रेमप्राप्तिः लोकेऽपि दृश्यते।

पदार्थ—(लोके अपि) लोक में भी (भगवद्गुणश्रवणकीर्त्तनात्) भगवान् के गुणों का श्रवण और कीर्त्तन करने से।

भावार्थ—जब तक निरन्तर भगवद्भजन करने का सामर्थ्य न हो जाय तब तक अवकाश मिलने पर लोकों के समीप भगवान् की कथा का श्रवण और कीर्त्तन करें, क्योंकि इस कलिकाल में भगवन्नामकीर्त्तन मुख्य धर्म है। इस युग में नामसंकीर्त्तन से ही पुरुषार्थसिद्धि हो सकती है, इसी से भगवान् ने कृपा करके नाम में अनेकों प्रकार से अपनी शक्तियों को स्थित कर दिया है। इसी कारण भगवान् की कथा का श्रवण-कीर्त्तन करते-करते चित्त क्रम से भगवान् की ओर को खिंचने लगता है। श्रीचैतन्यदेव जी कहते हैं कि—

"व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत् सदा।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनञ्च यदा भवेत्"।।

अर्थात् यदि चित्त भक्ति में न रंगा हो तो हरिकथा के श्रवण आदि में लगावे तो धीरे-धीरे उसमें आसक्ति बढ़ेगी अर्थात् श्रवण-कीर्त्तन का व्यसन पड़ जायेगा और भक्ति का बीज अपने आप ही दृढ़ हो जायेगा । सब लोग भक्ति के अधिकारी नहीं होते, परन्तु श्रवण-कीर्त्तन करने से सब हो जाते हैं और श्रवण-कीर्त्तन के अधिकारी मुक्त, मुमुक्षु और विषयी तीनों हैं । यही बात श्रीमद्भागवत के आरम्भ में कही है —

''निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्भवौषधाच्छोत्रमनोभिरामात् ।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्''।। ३७।।

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा ॥ ३८ ॥

मुख्यरूपेण तु महत्कृपया = महात्मनामनुग्रहेणैव अथवा भगवतो कृपालेशतः लभ्यते ॥

पदार्थ—(मुख्यतः तु) मुख्यरूप से तो (महत्कृपया एव) महात्माओं की कृपा से ही (वा) अथवा (भगवत्कृपालेशात्) भगवान् की कृपा के लव से ।

भावार्थ—यद्यपि पूर्वोक्त साधनों से भक्ति का आविर्भाव होता है परन्तु महात्माओं की कृपा वा श्रीभगवान् की कृपा का लेश प्रेम को पाने का मुख्य उपाय है । यहाँ महत् शब्द का अर्थ मध्यम भक्त है, क्योंकि सकल प्राणियों में समदृष्टि रखने वाले उत्तम भक्तों की कृपा में तो विषमता होती ही नहीं और अभक्तों के ऊपर कृपा करना मध्यम भक्त का गुण है । भगवान् की कृपा भक्त की कृपा के पीछे चलती है । जिसके ऊपर भक्त की कृपा होती है उसके ऊपर भगवान् भी दया करते हैं । भगवान् की दया होने पर प्रेम अलभ्य नहीं रहता, उनकी स्वरूपशक्ति की वृत्तिरूप प्रेम स्वरूपशक्ति में से जीवशक्ति में गंगा के प्रवाह के समान बहने लगता है । इस कारण महात्माओं की दया होने पर प्रेम सुलभ है । कभी-कभी किन्हीं-किन्हीं जीवों को साक्षात् भगवान् की कृपा से भी प्रेमलाभ होता है, परन्तु यह बात भगवान् के अवतारकाल में ही हो सकती है; अन्य समय भक्तों के द्वारा ही भगवान् की कृपा का लाभ हो सकता है । महात्मा जड़भरत ने रहूगण राजा से कहा था कि—

''रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपनाद् गृहाद्वा ।
न छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकात्'' ।।

अर्थात् हे रहूगण ! यह भक्ति रूप सिद्धि तपस्या के द्वारा नहीं होती, यागादि कर्म के द्वारा भी नहीं होती, घर को छोड़कर योगी होने से भी नहीं होती, वेद और वेदान्त को पढ़ लेने मात्र से भी नहीं होती, अग्नि के द्वारा अग्निहोत्रादि करने से भी नहीं होती, जल के द्वारा स्नान-सन्ध्या-तर्पणादि करने से भी नहीं होती, सूर्योपस्थान वा ग्रीष्म के तापसेवनादि से भी नहीं होती; यह तो केवल महात्माओं की चरणरज का सेवन करने से ही होती है । भगवान् ने अपने श्रीमुख से भी कहा है —

"न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः"।।

हे अक्रूर! गंगा आदि तीर्थ और मृण्मय वा शिलामय देवता जिनको पवित्र नहीं करते वा बहुत विलम्ब से पवित्र करते हैं, उनको साधु-महात्मा दर्शनमात्र से ही पवित्र कर देते हैं । बाहरी चेष्टा वा यत्न से भक्ति का लाभ नहीं होता, किन्तु साधु-महात्माओं का अनुग्रह होते ही भगवान् की कृपादृष्टि होकर हृदय में भक्ति का उदय होता है ।। ३८।।

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ॥ ३९ ॥

महतां सङ्गः दुष्प्राप्यः, अगम्यः, सफलश्च ।

पदार्थ—(तु) किन्तु (महत्सङ्गः) महात्माओं का संग (दुर्लभः) दुर्लभ (अगम्यः) अगम्य (च) और (अमोघः) सफल है ।

भावार्थ—महात्माओं का संग हो जाय तो उनकी कृपा हो सकती है, परन्तु उनका संग बड़ा दुर्लभ है । वह हमारे चाहने पर नहीं हो सकता, क्योंकि वे कामना और स्वार्थरहित होते हैं । उनका संग होने का उनकी इच्छा के सिवाय और कोई उपाय नहीं है । उनकी ऐसी इच्छा होने के कारण भी साधारण पुरुषों की समझ में नहीं आ सकता, अपना सौभाग्य हो तभी उनका दर्शन होता है । यदि महात्मा सामने आ जायें तब भी अपने मन में मलिनता होने के कारण उनको पहिचाना नहीं जाता, इस कारण महत्पुरुषों का संग दुर्लभ है । परन्तु एक बार किसी प्रकार संग हुआ तो वह निष्फल नहीं जाता, अपने अधिकार के अनुसार उसका फल अवश्य ही मिलता है । इस कारण वह अमोघ है ।। ३९।।

लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव ॥ ४० ॥

तस्य भगवतः कृपयैव सङ्गः अपि लभ्यते = प्राप्यते ।

पदार्थ—(तत्कृपया एव) भगवान् की दया से ही (लभ्यते अपि) प्राप्त भी होता है।

भावार्थ—श्रीभगवान् जिसके ऊपर दया करना चाहते हैं, उसी समय वह किसी साधु के मन में बैठकर उसको भेज देते हैं । वह अपने भाव से जिसको रंग देते हैं, दया करके जिसके हृदय के किवाड़ खोल देते हैं उसको ही भगवान् के भेजे हुए साधु का दर्शन और संग होता है ।। ४०।।

तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात् ॥ ४१ ॥

तस्मिन् = भगवति, तज्जने = हरिजने, भेदाभावात् एवं भवति ।

पदार्थ—(तस्मिन्) उन भगवान् में (तज्जने) उनके भक्त में (भेदाभावात्) भेद न होने से ।

भावार्थ—श्रीभगवान् और उनके भक्त में भेद नहीं है, इसी से भगवान् की इच्छा में ही भक्त की इच्छा होती है; इसी से भगवान् जिसके ऊपर दया करना चाहते हैं, उसको अपना निदर्शनरूप साधुसंग देते हैं । भगवान् की दया का भी समय है, जब किसी जीव का हृदय आत्मप्रशंसा रहित होता है, जब आत्मग्लानि का अनुभव करता है, जब अपने को तुच्छ समझने लगता है तभी उसके ऊपर भगवान् की दया होती है । वह आत्मग्लानि जब शास्त्रीय श्रद्धा के साथ दीनता के रूप में आ जाती है, उसी समय वह दया साधुसंग के स्वरूप में प्रकाशित होती है । साधु को देखते ही भगवान् का स्मरण होता है, भक्त की भावना के अनुसार उनकी प्रतीती होती है । भक्त उन में और वह भक्त के हृदय में रहते हैं इस कारण दोनों में भेद नहीं है ।। ४१ ।।

तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम् ॥ ४२ ॥

तत् = प्रेम एव, पौनःपुन्येन साध्यताम् ।

पदार्थ—(तत् एव) उस प्रेम को ही (साध्यताम्) साधन करो (तत् एव) उस प्रेम को ही (साध्यताम्) साधन करो ।

भावार्थ—नारदजी भक्ति को पाने का और उपाय न देखकर और किसी चातुरी से जीव की गति न होती समझकर, 'भक्ति ही साधनसमुद्र का एक मात्र अमूल्य रत्न है' इस बात का तपोबल से अनुभव करके जीव के कल्याण के लिए ऊपर को भुजा उठाकर मुक्तकण्ठ से कहते हैं कि—हे जीव ! भगवद्भक्ति के सिवाय और किसी प्रकार उद्धार नहीं है अतएव उसकी साधना कर ।। ४२ ।।

षष्ठ अनुवाक

दुःसङ्गः सर्वथैव त्याज्यः ॥ ४३ ॥

दुःसङ्गः = विषयिजनसमागमः, सर्वथा = सर्वैः प्रयत्नैः, त्याज्यः= परिहरणीयः ।

पदार्थ—(दुःसङ्गः) कुसङ्ग (सर्वथा एव) सब प्रकार से ही (त्याज्यः) त्याग देना चाहिए ।

भावार्थ—यदि भक्ति को पाने की चाहना हो तो पहिले दुःसङ्ग को त्यागो । विषयों में आसक्त पुरुषों के संग को दुःसङ्ग कहते हैं । संग होने पर एक के गुण-दोष दूसरे में आते हैं । विषयासक्त पुरुष के संग से विषय के सुखदायकपन गुण का ध्यान होते-होते विषयों में आसक्ति होने लगती है । विषयासक्त पुरुष किसी प्रकार विषय को छोड़ देने पर भी विषयों की तृष्णा से छुटकारा नहीं पा सकता । इस कारण विषय-तृष्णा के मूल दुःसंग को उद्योग करके त्याग देना चाहिये ।। ४३ ।।

कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाशकारणत्वात् ॥ ४४ ॥

यतो हि सः दुःसङ्गः कामक्रोधादीनां निदानमतः त्याज्यः ।

पदार्थ—(कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाशकारणत्वात्) काम, क्रोध, मोह, स्मृतिनाश, बुद्धिनाश और सर्वनाश का कारण होने से ।

भावार्थ—कुसंगी की खोटी संगति से और उसके खोटे व्यवहार को देखने से काम अर्थात् विषयों के भोग की अभिलाषा होती है । किसी कारण से उस विषयभोग की तृप्ति में बाधा पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है । क्रोध का उदय होते ही चित्त चंचल होकर भले-बुरे के विचार से हीनतारूप मूढ़ता वा मोह उत्पन्न हो जाता है । मोह होते ही चित्त अज्ञानान्धकार से ढ़क जाता है, चित्त में स्थित संस्कारों का विस्मरण हो जाता है, तब अपने कल्याणसाधन के उपायरूप इन्द्रियों को जीतने की चेष्टा और उसके अनुसन्धान का भी ध्यान नहीं रहता । इस स्मृतिनाश के साथ-साथ बुद्धि भी ठिकाने नहीं रहती, मनुष्य कुछ-का-कुछ करने लगता है और ऐसा हुआ कि जीव का लोक-परलोक सब नष्ट हो जाता है । ऐसे सर्वनाश के कारण दुःसंग को जैसे बने वैसे त्यागना ही चाहिए ।। ४४।।

तरङ्गायिता अपीमे सङ्गात्समुद्रायन्ति ॥ ४५ ॥

तरङ्गायिता अपि = सूक्ष्मरूपेण वर्त्तमाना अपि, इमे = कामादयः, सङ्गात् = दुःसमागमात् , समुद्रायन्ति = उपचीयन्ते ।

पदार्थ—(तरङ्गायिता अपि) तरंग के समान स्थिति भी (इमे) ये (सङ्गात्) संग से (समुद्रायन्ति) समुद्र के समान हो जाते हैं ।

भावार्थ—उस कुसंग का और भी दोष दिखाते हैं कि जो मनुष्य सुमार्ग पर चलते हैं उनको जैसे कभी-कभी ज्ञान की सूक्ष्म तरंगें उठा करती हैं; जैसे—स्त्रीगमन के अन्त में, तीर्थयात्रा में, हरिकथाओं को सुनने पर वा श्मशान को देखने पर ज्ञान की तरंगें उठती हैं । मनुष्य जितनी देर श्मशान में बैठते हैं उतनी देर तक 'संसार नाशवान् है, धन-जन में मोह करना अच्छा नहीं' इत्यादि ज्ञान की बातें करते हैं, परन्तु वहाँ से लौटकर घर आते ही सब भूलकर संसार में मग्न हो जाते हैं । ऐसे ही सज्जनों को यद्यपि अपने वर्णाश्रम के अनुकूल कर्मों को करते हुए पुत्रस्नेह आदि के द्वारा काम-क्रोधादि की तरंगें उठकर मोह होता है, परन्तु वह उतने ही समय रहता है जब तक वह अपने स्वरूप को भूले रहते हैं; परन्तु यदि वे ही सज्जन कुसंग में पड़ जायँ तो उनकी साधुता के भाव धीरे-धीरे अन्तर्ध्यान होकर उन सूक्ष्म रूप से वर्त्तमान काम-क्रोधादि तरङ्गों पर तरङ्गें आकर उनका एक विशाल समुद्र-सा बन जाता है और वह जीवों को दुःखभरी गम्भीर गहराई में डुबो देता है ।। ४५।।

कस्तरति कस्तरति मायां ? यः सङ्गं त्यजति यो महानुभावं सेवते निर्ममो भवति ॥ ४६ ॥

कः = जनः, मायां तरति = अतिक्रामति, यः जनः सङ्गम् = आसक्तिं, त्यजति = परिहरति, महानुभावं = साधुजनं, सेवते = भजति, निर्ममः = ममत्वरहितः भवति, स एव मायां तरति ।

पदार्थ—(कः) कौन (मायाम्) माया को (तरति) तरता है (यः) जो (सङ्गम्) संग को (त्यजति) त्यागता है, (यः) जो (महानुभावं) साधुपुरुष को (सेवते) भजता है, (निर्ममः) ममतारहित (भवति) होता है ।

भावार्थ—मनुष्यमात्र स्वभाव से ही यह चाहता है कि मेरे दुःख दूर हों और सुख मिले, परन्तु यह दुःख दूर होना और सुख मिलना मनुष्य की इच्छा के अधीन नहीं हैं । यह सब कर्मानुसार होता है, कर्मों के वशीभूत मनुष्य परवश होकर दुःखों को और सुखों को भोगता है । विवश होकर सुख-दुःखों का भोग करते-करते कभी किसी पुरुष को आत्मग्लानि होती है । आत्मग्लानि होने से श्रद्धा होती है । शास्त्र पर विश्वास का नाम ही श्रद्धा है । श्रद्धावान् पुरुष भक्ति का अधिकारी है । शास्त्र के ऊपर विश्वास होने पर व्यवहार से गाढ़ा सम्बन्ध होने पर भी परमार्थ में शिथिल विश्वास के साथ शास्त्रानुसार आचरण में आदर और चाहना देखने में आती है । यह आदर सहित चाहना भी श्रद्धा की ही एक अवस्था है । शास्त्रोक्त आचरण में आदर के साथ चाहना उत्पन्न होने पर भी यथावत् आचार के पालन की शक्ति नहीं होती है, इसी से सांसारिक सुख-दुःख देने वाले कर्म में उदासीनता भी उत्पन्न नहीं होती और सकल कर्मों में बड़ी भारी आसक्ति भी नहीं होती । जितनी-जितनी आसक्ति कम होती जाती है उतनी-उतनी ही निषिद्ध आचरण की कमी के साथ विहित आचरण की वृद्धि होती जाती है और ऐसा होते-होते क्रम से कर्मफल में आसक्ति नहीं रहती । फल की आसक्ति से रहित कर्म को ही निष्काम कर्म कहते हैं । निष्काम कर्म का आरम्भ होते ही साधन की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है और ऐसी समझ होते ही साधु पुरुषों का समागम होता है । साधु-समागम के साथ साधुसेवा में प्रवृत्ति होने के साथ-साथ व्यवहार में कुछ-कुछ शिथिलता और परमार्थ में कुछ गाढ़ता होने लगती है । यही प्रेम का बीज है । साधुसेवा ही भजन की पहली सीढ़ी है । यह प्रथम भजन-क्रिया दो प्रकार की है—निष्ठित और अनिष्ठित । इस भजन-क्रिया का आरम्भ होते ही अन्य बातें दूर होकर क्षणिक ध्यान होने लगता है, फिर भजन-क्रिया की मात्रा के अनुसार सकल अनर्थों की निवृत्ति के साथ-साथ ध्यान जमने लगता है और अन्य बातों में चित्त नहीं जाता । अनर्थ चार प्रकार के हैं—१. दुष्कर्म से होने वाले, २. सुकृत से होने वाले, ३. अपराध से होने वाले और ४. भक्ति से होने वाले । पाप कर्म के कारण अनुचित भोगासक्ति आदि से उत्पन्न हुए काम आदि शत्रु के आक्रमण से कलुषित हुए चित्त के लय-विक्षेप आदि का नाम

दुष्कर्मोत्थ अनर्थ है । पुण्य-कर्मवश शुद्ध भोगासक्ति आदि के कार्यरूप लय-विक्षेप आदि का नाम सुकृतोत्थ अनर्थ है । नानापराध से उत्पन्न हुए लय-विक्षेप आदि अनर्थों का नाम अपराधोत्थ अनर्थ है । शिव कोई अलग ईश्वर नहीं हैं किन्तु विष्णु का ही एक अवतार हैं, तथापि उनको विष्णु से भिन्न अलग ईश्वर मानना तथा गुरुदेव में मनुष्य बुद्धि आदि अवज्ञा करना, वेद-पुराण आदि शास्त्रों की निन्दा करना, नाम में अर्थवाद अर्थात् भगवन्नाम की जो शक्तियाँ कही हैं, वह वास्तव में नहीं हैं किन्तु प्रशंसा की बात है ऐसा समझना, नाम की गलत व्याख्या वा क्लिष्ट कल्पना करना, नाम के बल पर पाप कर्म करना, नाम को अन्य शुभ कर्मों के समान समझना, श्रद्धाहीन को नाम का उपदेश देना और नाम का माहात्म्य सुनकर भी नाम में प्रीति न करना—ये दश नामापराध हैं । भक्ति के द्वारा होने वाली पूजा आदि की चेष्टा से उत्पन्न हुए लय-विक्षेप आदि का नाम भक्त्युत्थ अनर्थ है । ये चारों प्रकार के अनर्थ जितने कम होंगे उतनी ही भजन में निष्ठा होगी । निश्चलता को निष्ठा कहते हैं । अनर्थदशा में लय-विक्षेप आदि के कारण भजन में निश्चलता नहीं होती । जितने-जितने लय-विक्षेप आदि अनर्थ कम होते जायेंगे उतनी ही निश्चलता होती जायेगी । इन अनर्थों के निवृत्त होने का उपाय श्रीचैतन्यदेव ने कहा है कि—

"तृष्णादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना ।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः"।।

तिनके से भी नीचा, वृक्ष से भी अधिक सहनशील, स्वतः निरभिमान होना और सब में भगवान् की ही झाँकी है—ऐसा समझकर दूसरों का सन्मान करना, ऐसा होकर निरन्तर भगवन्नामकीर्त्तन करे । इस उपदेश पर चलने पर भजन में निष्ठा हो जायेगी । निष्ठा के अनन्तर रुचि होकर आसक्ति होगी । आसक्ति होने पर ध्यान जमने लगेगा, ध्यान गाढ़ा होकर भाव हो जायेगा, वह भाव ही प्रेम का अंकुर है । उस दशा में समाधि के समय पर तत्त्व की स्फूर्त्ति होती है । भाव का ही दूसरा नाम प्रेम है । प्रेम का उदय होने पर क्रम से देह और देह के सम्बन्धियों में ममता कम होती जाती है और ममतारहित भक्त को भगवान् का बहिःसाक्षात्कार होने से उसके हृदय की गाँठ खुल जाती है । सब प्रकार के सन्देहों की निवृत्ति और कर्म का जड़मूल से क्षय हो जाता है । जिसके कर्म की जड़ कट गई वही माया के पार हो गया । यह माया के पार होना किसी का शरीर शान्त होने पर और किसी का शरीर रहते भी सिद्ध हो जाता है ।। ४६।।

यो विविक्तस्थानं सेवते यो लोकबन्धमुन्मूलयति निस्त्रैगुण्यो भवति यो योगक्षेमं त्यजति ॥ ४७ ॥

यः = पुरुषः, विविक्तस्थानम् = एकान्तं सेवते, यः लोकबन्धं = लौकिकसम्बन्धम्, उन्मूलयति = दूरीकरोति, निस्त्रैगुण्यः = त्रिगुणरहितः, उपनिषत्प्रतिपादितात्मयाथात्म्यनिश्चयः भवति, यः योगक्षेमम् = अप्राप्तस्य

प्राप्त्युद्योगं प्राप्तस्य च परिरक्षणं त्यजति, सः मायां तरति।

पदार्थ—(यः) जो (विविक्तस्थानम्) निर्जन स्थान को (सेवते) सेवन करता है, (यः) जो (लोकबन्धम्) लोकसङ्ग बन्धन को (उन्मूलयति) उन्मूलन करता है, (निस्त्रैगुण्यः) त्रिगुणरहित (भवति) होता है, (यः) जो (योगक्षेमम्) योगक्षेम को (त्यजति) त्यागता है।

भावार्थ— माया से निस्तार पाने का और भी उपाय कहते हैं कि लोकसमूह में रहने से सांसारिक कोलाहल के कारण निरन्तर भगवच्चिन्तन नहीं बनता, नाना प्रकार के लोकों के संग से व्यवहार में संलग्न होना पड़ता है। इस दशा में संगदोष लग जाता है और जनसमूह में रहने से लौकिक मर्यादा के अनुसार ही आचार- व्यवहार आदि की व्यर्थ अड़चन में पड़ना होगा; नाच-गान, रंग-रास में मन मग्न हो जायेगा। इसलिए निर्जन स्थान में निवास करना ही हितकारी है, जो निष्काम कर्म के द्वारा विशुद्धचित्त होकर निर्जन स्थान में आत्मचिन्तन में लगे रहते हैं। इस प्रकार जिनके लौकिक व्यवहार का बन्धन विच्छिन्न हो जाता है; जो सत्त्व, रजः, तमः इन तीन गुण और इन गुणों के कार्यों से अलग रहकर उपनिषदों में वर्णन किये हुए आत्मतत्त्व के साक्षात्कार की चेष्टा करते हैं। ऐसा करने के लिए जो वाणी, शरीर और मन को वश में रखकर योगक्षेम को त्याग देते हैं अर्थात् भोजनाच्छादन की चेष्टा तक को त्याग देते हैं, शरीरयात्रा के लिए जो कुछ चाहिए भगवद्भक्त को उसकी भी चिन्ता नहीं करनी पड़ती—

"भोजनाच्छादने चिन्तां वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः।
विश्वम्भरो गुरुर्येषां किं दासान् समुपेक्षते"॥

अर्थात् विष्णुपरायण पुरुष अपने भोजन-वस्त्र के लिए वृथा ही चिन्ता करते हैं, क्योंकि चराचर सकल विश्व को भोजन देनेवाला विश्वम्भर जिनका रक्षक है वह क्या अपने अनुगत सेवकों की उपेक्षा कर सकता है ? भगवान् की तो प्रतिज्ञा ही है कि—

"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्"॥

जो पुरुष अनन्यभाव से मेरा ध्यान करते हुए उपासना करते हैं उनकी शरीर-यात्रा के निर्वाह का भार मैं अपने ऊपर लेता हूँ। क्योंकि जब सब कुछ छोड़कर भी अपने लिए हाय-हाय ही रही तो उस छोड़ने को धिक्कार है। ऐसी वृत्ति वाले पुरुष शरीर और शरीर के सम्बन्धियों की ममता से रहित और शान्त होकर पापरहित, अजर, अमर, क्षुधा, पिपासा, सत्यकाम, सत्यसंकल्प, शुद्ध जीवात्मा के साक्षात्कार के अनन्तर सकल प्राणियों में समदर्शीपन पाकर परम प्रेम के प्रकट होने पर माया के पार हो जाते हैं॥ ४७॥

यः कर्मफलं त्यजते कर्माणि संन्यसति ततो निर्द्वन्द्वो भवति ॥ ४८ ॥

यः कर्मफलं त्यजते, ततः कर्माणि अपि संन्यसति = परित्यजति, सः ततः = तदनन्तरं, निर्द्वन्द्वः = द्वन्द्वातीतो भवति ।

पदार्थ—(यः) जो (कर्मफलम्) कर्मफल को (त्यजते) त्यागता है (कर्माणि) कर्मों को (संन्यसति) त्यागता है (ततः) तदनन्तर (निर्द्वन्द्वः) द्वन्द्वातीत (भवति) होता है ।

भावार्थ—जब तक साधक के मनावेग की शान्ति न हो अर्थात् पदार्थों में प्रवृत्ति बनी रहे तब तक विहित कर्मों का आचरण न छोड़ें, परन्तु उन कर्मों के फल को अपने भोग के लिए न चाहकर उन सब कर्मों का फल भगवान् को अर्पण कर दे । तदनन्तर जब इन्द्रियाँ और उनका वेग शान्त होने लगे अर्थात् निवृत्ति में श्रद्धा का उदय हो तब विक्षेपकारी कर्मों को भी त्याग दे । इस प्रकार साधन के क्रम से सुख-दुःखादि द्वन्द्वों के पार हो जाय अर्थात् जिसका चित्त सुख में स्पृहारहित और दुःख में उद्वेगरहित हो वह समदर्शी ही माया के पार होता है ।। ४९।।

यो वेदानपि संन्यसति केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते ॥ ४९ ॥

यः वेदान् = वेदोक्तकाम्यविधीन् अपि, संन्यसति = त्यजति, केवलम् = एकमात्रम् अविच्छिन्नानुरागं = निरन्तरं प्रेम लभते ।

पदार्थ—(यः) जो (वेदान् अपि) वेदोक्त मर्यादा को भी (संन्यसति) त्यागता है (केवलम्) एकमात्र (अविच्छिन्नानुरागम्) निरन्तर प्रेम को (लभते) पाता है।

भावार्थ—कर्मफल में आसक्तिरहित होकर कर्मफल का अनुष्ठान करते-करते मन का वेग दूर होकर शुद्धचित्त हुए मनुष्य को ज्ञान और भक्ति की प्राप्ति होती है, फिर लोकमर्यादा की ओर ध्यान नहीं होता । स्वधर्माचरण के गुण और उसको त्यागने के दोष को जानने वाले पुरुष के भी लौकिक कर्म का त्याग हो जाता है । लौकिक कर्म का त्याग होने पर भी वेद की ओर ध्यान रहने से वैदिक कर्म का त्याग नहीं होता । भक्त भक्ति का उदय होने पर्यन्त ही वेदविहित कर्म का अनुष्ठान करते हैं, परन्तु प्रेमपन्थी पुरुष लोकमर्यादा और वेदमर्यादा दोनों को त्याग कर निरन्तर प्रेम के साथ भगवान् के गुणानुवादों का श्रवण-कीर्त्तन आदि ही करते हैं । जिनके अन्तःकरण में ऐसे पवित्र परम प्रेम का प्रवाह निरन्तर बहने लगता है वह अनायास में ही माया के पार हो जाते हैं ।। ४९।।

स तरति स तरति स लोकांस्तारयति ॥ ५० ॥

सः = निरवच्छिन्नप्रेमयुक्तो भक्तः, मायां तरति, लोकान् अपि तारयति ।

पदार्थ—(सः) वह (तरति) तरता है (सः) वह (तरति) तरता है (लोकान् अपि) लोकों को भी (तारयति) तारता है ।

भावार्थ—नारदजी भक्तिरस में भरकर और भक्तितत्त्व की निर्मल ज्योति क

दर्शन करके, भक्तिसाधक की विश्वमोहिनी अवस्था को देखकर आनन्द में नाच उठे और वह लोगों की आँखें खोलने के लिए उत्साह के साथ कहते हैं कि—अविच्छिन्न भगवत्प्रेमी भक्त ही माया के पार होता है और वह स्वतः ही पार नहीं होता किन्तु अन्य लोगों को भी पार लगाता है । भगवान् आप ही कहते हैं कि "मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति" वा 'पुनाति भुवनत्रयम्' अर्थात् मेरा भक्त त्रिलोकी को पवित्र करता है ।।५०।।

सप्तम अनुवाक

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् ॥ ५१ ॥

येन प्रेम्णा भक्तः स्वयं कृतार्थः सन्नन्यानपि कृतार्थयति तस्य प्रेम्णः स्वरूपम् अनिर्वचनीयं = वक्तुमशक्यम् ।

पदार्थ—(प्रेमस्वरूपम्) प्रेम का स्वरूप (अनिर्वचनीयम्) अकथनीय ।

भावार्थ—जिस प्रेम की सहायता से परमकल्याण होता है उस प्रेम का स्वरूप वाणी से नहीं कहा जा सकता, उसको प्रेमी ही जानते हैं । जानकर भी उसको वह किसी के सामने प्रकट नहीं कर सकते । इस संसार में ऐसी कोई वस्तु वा वाक्य है ही नहीं, जिसके द्वारा प्रेम का स्वरूप समझाया जा सके । प्रेम के लिए दूसरा शब्द है चाहना परन्तु लौकिक चाहना का मूल अशुद्ध है, क्योंकि उसमें स्वार्थ है; भगवत्प्रेम अत्यन्त शुद्ध और निःस्वार्थ है । भगवत्प्रेम के भीतर निःस्वार्थभाव, निरहंकारभाव और आत्मसमर्पण का भाव भरा हुआ है । जहाँ आत्मम्भरीपन देखने में आता है वहाँ लौकिक प्रेम ही हो सकता है, भगवत्प्रेम नहीं हो सकता । भगवत्प्रेम आत्मा में एक ऐसा पदार्थ होता है कि मनुष्य के स्वार्थ को भगवदर्थ में, अहंकार को दीनता में और स्वार्थीपन को परमार्थपरायणता में बदल कर विलीन करके अणुचैतन्य को विभुचैतन्य में, अंश को अंशी में, दास को प्रभु में और शक्ति को शक्तिमान् में समर्पण करा देता है । भगवत्प्रेम अनादि से बहिर्मुख जीव को सब प्रकार से अन्तर्मुख कर देता है । वह स्वभाव से भगवद्विमुख मनुष्य को निरन्तर स्मरण के प्रवाह में डालकर हर समय भगवान् की सन्मुखता देता है । प्रेम आत्मा की वह वृत्ति है कि जो परमक्षुद्र मनुष्य को वाणी और मन के अगोचर अनन्त परब्रह्म की खोज में प्रवृत्त कराकर अंश को अंशी के साथ, शक्ति को शक्तिमान् के साथ मिला कर अटूट बन्धन में बाँध देती है। वह मनुष्य के अस्वाभाविक अहंकार को स्वाभाविक अहंकार में विलीन करके उसमें आने वाले प्रभुता के अभिमान को चिरकाल के लिए भुलाकर, ठहरने वाली दास्यबुद्धि को उत्पन्न कर देती है और अन्त में उसकी क्षुद्रवासना को परमेश्वर की महती कृपा में मिला कर,

चिरकाल से अलग हुई शक्ति को शक्तिमान् के साथ सम्भोग-दशा में पूर्णतया एकाकार कर देती है । वह मनुष्य की स्वतन्त्रता को परतन्त्रता में बदल देती है । मनुष्य के सकल स्वार्थमूलक कर्मों को परार्थमूल करके, जगत् के द्वेषभाव को प्रीतिभाव में बदल कर उसको सकल जीवों की सेवा में तथा भगवान् की सेवा में लगा देती है। वह मनुष्य के अज्ञानान्धकार को दूर करके, उसको निःस्वार्थभाव से परोपकार करने के लिए तथा जगत् का हित करने के लिए तत्त्वज्ञान से प्रकाशित कर देती है । वह मनुष्य को अपनी ओर चिन्ता से रहित करके उसका ध्यान संसार और संसारपति की ओर लगा देती है । वह मनुष्य के अन्तःकरण को कोमल कर देती है, संसार के सकल विक्षेपों को हटा देती है, विक्षिप्त चित्त को शान्त कर देती है, मनुष्य की मोहनिद्रा को दूर करके जगा देती है, खिन्नता को दूर करके प्रसन्नता देती है, कर्त्तव्यभ्रष्ट मनुष्य को कर्त्तव्य पर ठहराती है तथा नीरस चित्त में सरसता लाती है । उसकी शक्ति अनन्त है, उसका स्वरूप अनिर्वचनीय है, क्योंकि उसके समान कोई लौकिक वस्तु है ही नहीं; इसी से भगवत्प्रेम को लौकिक वाणी से प्रकाशित करने की आशा दुराशा ही है ।।५१।।

मूकास्वादनवत् ॥ ५२ ॥

तत् मूकास्वादनवत् अनिर्वचनीयम् ।

पदार्थ—(मूकास्वादनवत्) गूँगे के स्वाद के समान है ।

भावार्थ—जैसे गूँगा पुरुष परम स्वादु मीठे पदार्थों का स्वाद लेकर आनन्द से गद्गद हो जाता है, परन्तु वाक्शक्ति न होने से दूसरे को उस रस का वर्णन करके नहीं समझा सकता है, केवल हँस देता है; ऐसे ही भगवान् का प्रेमी भक्त भी प्रेम प्रकट होने के समय आनन्द से गद्गद हो जाता है, स्वयं उसका स्वाद लेकर भी दूसरे को उसका स्वरूप कहकर नहीं समझा सकता । इस कारण वह वाणी का विषय न होने से अनिर्वचनीय है ।।५२।।

प्रकाश्यते क्वापि पात्रे ॥ ५३ ॥

क्वापि पात्रे = कस्मिंश्चित् अधिकारिणि स्वयमेव प्रकाश्यते ।

पदार्थ—(क्वापि) किसी भी (पात्रे) अधिकारी में (प्रकाश्यते) प्रकाशित होता है ।

भावार्थ—प्रेम स्वयं प्रकाश है, उसका कोई प्रकाश नहीं है । बुद्धि के विचार, कष्टकल्पना और भाषा की निपुणता के द्वारा उसके स्वरूप की व्याख्या नहीं की जा सकती, परन्तु उसमें अपनी एक ऐसी शक्ति है कि जब कोई भाग्यवान् पुरुष प्रेम में मतवाला होकर स्वयं को आप ही भूल जाता है, उस समय वह प्रेमी के संसर्ग से धीरे-धीरे स्वयं ही प्रकाशित हो जाता है ।।५३।।

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्द्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् ॥ ५४ ॥

गुणरहितं = गुणातीतं, कामनारहितं = कामनाया अविषयम्, प्रतिक्षणं वर्द्धमानम्, अविच्छिन्नम् = अखण्डितं, सूक्ष्मतरं = परमं सूक्ष्मम्, अनुभवरूपं प्रेम।

पदार्थ—(गुणरहितम्) गुणों से हीन (कामनारहितम्) कामनाहीन (प्रतिक्षणवर्द्धमानम्) क्षण-क्षण में बढ़नेवाला (अविच्छिन्नम्) विच्छेद रहित (सूक्ष्मतरम्) अतिसूक्ष्म (अनुभवरूपम्) अनुभवस्वरूप है।

भावार्थ—किसी के गुणों को देखकर जो प्रेम, भक्ति वा चाहना का उदय होता है, स्वर्गादि की कामना से वा भोगादि की लालसा से जो पुण्यकर्म में वा भक्ति में आसक्ति होती है वह वास्तविक प्रेम नहीं है। क्योंकि गुणी से जो प्रेम किया जाता है; उसका गुण दूर होते ही उस प्रेम का क्षय हो जाता है। स्वर्गादि की प्राप्ति हो जाने पर कर्म में आसक्ति कम हो जाती है। स्त्रीसम्भोग की समाप्ति में वह प्रेम नष्ट हो जाता है, परन्तु भगवत्प्रेम का विच्छेद नहीं होता, क्योंकि वह गुणों के सम्पर्क से शून्य और कामनारहित होता है। संसार का प्रेम पहिले तो बड़े चाव के साथ बढ़ता है, परन्तु पीछे अवस्था, रूप, बल और धन आदि के घटने के साथ-साथ दिन-प्रतिदिन घटता चला जाता है; परन्तु भगवत्प्रेम तो क्षण-क्षण में बढ़ता ही है। प्रेम की धारा अनन्त परमेश्वर की ओर को अटूट प्रवाह से निरन्तर बहती है, उसमें किसी सांसारिक दुःख आदि की बाधा, विच्छेद वा विराम नहीं होता, क्योंकि भगवद्वियोग के महान् दुःखसागर में संसार के सकल क्षुद्र दुःख डूब जाते हैं। वह भगवत्प्रेम सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और अनुभवस्वरूप है। वह सच्चिदानन्दमय परमेश्वर की सच्चिदानन्दमयी स्वरूपशक्ति की अनुकूल अभिलाषारूप स्वाभाविक वृत्ति है। वह वृत्ति निरन्त बढ़ती हुई अविच्छिन्न प्रवाहरूप से बहती रहती है। वह जिस समय भगवान् की कृपा से किसी मनुष्य के अन्तःकरण में प्रकट होकर उसकी वृत्ति के साथ मिल जातां है, उस समय वह उस मनुष्य को अपनी ही वृत्ति मालूम होती है और तभी यह उसके अनुभव का विषय होती है। इस प्रकार सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अनुभवरूप होने से ही उसका कोई उदाहरण नहीं दिया जा सकता। भाषा के बोधा कवि ने प्रेम की सूक्ष्मता के वर्णन में यह कवित्त कहा है—

"अति छीन मृनाल के तारहु ते, तेहि ऊपर पाँवदे आवनो है।
सुचि वेधते नाको सकीर्न तहां, परतीतको टांड़ो लदावनो है ।।
कवि बोधा अनी धनी नेनहुते, चढ़ि तापै न चित्त डिगाबनो है।
यह प्रेम को पन्थ कराल महा, तरवार की धार पै धावनो है"।। ५४।।

तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव चिन्तयति ॥ ५५ ॥

तत् = प्रेम प्राप्य, मनुष्यः तदेव अवलोकयति = पश्यति, तदेव शृणोति, तत् एव चिन्तयति = विचारयति ॥

पदार्थ—(तत्) उसको (प्राप्य) पाकर (तत् एव) उसको ही (अवलोकयति) देखता है (तत् एव) उसको ही (शृणोति) सुनता है (तत् एव) उसको ही (चिन्तयति) विचारता है ।

भावार्थ—प्रेमी के सामने प्रेममय भगवान् का स्वरूप और प्रेम का स्वरूप एक ही पदार्थ है । जिन्होंने प्रेम को पा लिया उन्होंने भगवान् को पा लिया, इस कारण उनको फिर प्रेमस्वरूप भगवान् के सिवाय और किसी को देखने, सुनने वा विचारने की इच्छा नहीं रहती है ।।५५।।

गौणी त्रिधा गुणभेदादार्त्तादिभेदाद्वा ॥ ५६ ॥

प्रेम्णः साधनरूपा भक्तिर्द्विविधा मुख्या गौणी, तत्र गौणी गुणभेदात् वा आर्त्तादिभेदात् त्रिविधा ।

पदार्थ—(गौणी) गौणी भक्ति (गुणभेदात्) गुणभेद से (वा) अथवा (आर्त्तादिभेदात्) आर्त्ता आदि भेद से (त्रिधा) तीन प्रकार की है ।

भावार्थ—मुख्या और गौणी भेद से भक्ति दो प्रकार की है । ज्ञानी वा निर्गुण भक्त की अनुभव की हुई भक्ति मुख्या है, उसका स्वरूप यहाँ तक दिखाया । अब गौणी भक्ति सत्त्व-रजः-तमः इन गुणों के कारण सात्त्विकी, राजसी और तामसी ऐसे तीन प्रकार की है । सत्त्वगुणी की हुई सात्त्विकी, रजोगुणी की हुई राजसी और तमोगुणी की हुई गौणी भक्ति तामसी कहलाती है । जिज्ञासु वा मुमुक्षु भक्त सात्त्विक, आर्त्त भक्त राजस और अर्थार्थी भक्त तामस अधिकारी है । इनमें जिज्ञासु निष्काम और आर्त्त तथा अर्थार्थी सकाम हैं ।।५६।।

उत्तरस्मादुत्तरस्मात्पूर्वपूर्वा श्रेयाय भवति ॥ ५७ ॥

उत्तरस्मात् उत्तरस्मात् = परतःपरतः, पूर्वपूर्वा भक्तिः श्रेयाय = कल्याणाय भवति ।

पदार्थ—(उत्तरस्मात् उत्तरस्मात्) अगली-अगली से (पूर्वपूर्वा) पहिली-पहिली (क्षेमाय) कल्याण के लिए (भवति) होती है ।

भावार्थ—यद्यपि तीनों प्रकार की भक्ति कल्याणकारिणी हैं तथापि तामसी से राजसी और राजसी से सात्त्विकी भक्ति को अधिक कल्याणदायक समझना चाहिए, क्योंकि अर्थार्थी तामस भक्त किसी कामना से ही भक्ति करते हैं । यदि उनको किसी पदार्थ की इच्छा न हो तो वह जाने भक्ति करें या नहीं ? इनमें सन्देह ही है, इसके सिवाय काम्य पदार्थ मिल जाने पर अभिमान होकर फिर उनको भगवान् की याद भी

नहीं आती । आर्त्त भक्त को भी आर्त्ति के बिना भक्ति नहीं होती । विपत्ति में बिना पड़े वह भगवान् का भजन नहीं करते । यह ठीक है, परन्तु विपत्ति से छूटने पर उनको अभिमान होने की अधिक सम्भावना नहीं है, विशेषतः उस दशा में वह अपनी हीनता का अनुभव करके श्रीभगवान् को आत्मसमर्पण करते हैं । इस कारण वह कभी भगवान् को भूलते ही नहीं हैं । इसी से अर्थार्थी से आर्त्त भक्त श्रेष्ठ है, परन्तु जिज्ञासु इन दोनों से ही श्रेष्ठ हैं; क्योंकि अर्थार्थी और आर्त्त दोनों सकाम हैं, जिज्ञासु मोक्षकाम वा निष्काम होता है । जिज्ञासु केवल तत्त्वज्ञान के लिए भगवान् की भक्ति करते हैं । जिज्ञासु की भक्ति श्रीभगवान् के लिए श्रीभगवान् को जानने के लिए होती है । उनकी भक्ति के मूल में अपनी क्षुद्रता और भगवान् का महत्त्व झलकता है । अर्थार्थी और आर्त्त की अभिलाषा भगवान् के अतिरिक्त उनके प्रसादसुख को पाने के लिए होती है । जिज्ञासु में पहिले मोक्षसुख की अभिलाषा दीखने पर भी साधन के पक जाने पर वह भी नहीं रहती, इस दशा में वह ज्ञानी होता है । ज्ञानी को श्रीभगवान् के सिवाय और कोई अभिलाषा ही नहीं होती । इस कारण निर्गुण भक्त ज्ञानी ही सबसे श्रेष्ठ है ।। ५७।।

अष्टम अनुवाक

अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ ॥ ५८ ॥

अन्यस्मात् = कर्मादिसाधनात्, भक्तौ सौलभ्यं = सुलभत्वम् ।

पदार्थ—(अन्यस्मात्) और से (भक्तौ) भक्ति में (सौलभ्यम्) सुलभता है।

भावार्थ—मोक्ष के तीन साधन हैं—कर्म, ज्ञान और भक्ति । कर्मयोग और अष्टांगयोग भेद से कर्म दो प्रकार का है । यह कर्म मोक्ष का साधन होते हुए भी साक्षात् साधन नहीं है, किन्तु ज्ञान और भक्ति का अनुगामी होकर परम्परा से मोक्ष का साधन होता है । ज्ञान और भक्ति मोक्ष के साक्षात् साधन हैं । कर्मयोग और अष्टांगयोग का साधन करते समय अनेकों सिद्धियाँ वश में होकर साधक के उन्नतिभार्ग में विघ्न डालती हैं, परन्तु ज्ञानयोग वा भक्ति में विघ्न होना सम्भव ही नहीं है, क्योंकि ज्ञानयोग में चित्तशुद्धि पर्यन्त और भक्तियोग में आशयशुद्धि पर्यन्त कोई सिद्धि वश में होती ही नहीं । इस प्रकार ज्ञानयोग और भक्तियोग में समता मालूम होने पर भी भक्तियोग ही सुलभता में श्रेष्ठ है, क्योंकि विषयों से बिना वैराग्य हुए ज्ञानयोग का अधिकारी नहीं हो सकता, परन्तु भक्तियोग में ज्ञान वा वैराग्य की अपेक्षा नहीं है, जो विषयों में न अति आसक्त हो और न अति विरक्त हो वही भक्तियोग का अधिकारी है । हाँ ! यदि कोई ज्ञान-वैराग्य को लेकर भक्तियोग में प्रवेश करें तो वह उत्तम अधिकारी हैं, उनको भक्ति की सिद्धि शीघ्र ही हो जायेगी । भगवान् की कथा आदि में श्रद्धा होते ही भक्तियोग में अधिकार हो जाता है । कर्म त्याग के बिना पुरुष ज्ञानी नहीं हो सकता, परन्तु भक्त हो सकता है । ज्ञानी कर्म का त्याग करने पर ही ज्ञानी होगा, परन्तु भक्त कर्मफल को

त्यागने से ही भक्त हो जायेगा । यद्यपि विघ्न न होने के विषय में ज्ञान और भक्ति दोनों समान हैं, परन्तु ज्ञान से भक्ति का साधन सरस है । ज्ञान के साधन यम- नियम आदि नीरस हैं और भक्ति के साधन श्रवण-कीर्तन आदि सरस हैं । ज्ञान में अधिकार का विचार है , परन्तु भक्ति में अधिकार का विचार नहीं है । अतः भक्ति सबसे सुलभ है, तभी तो विद्याविहीन होकर भी गणिका, निर्धन होकर भी शबरी, वेद न पढ़कर भी गापियाँ, मनुष्य न होकर भी जटायु और गजराज तथा चाण्डाल होकर भी गुह ने भक्ति के द्वारा भगवान् को पाया ।।५८।।

प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात्स्वयं प्रमाणत्वात् ॥ ५९ ॥

भक्तिः स्वयं प्रमाणस्वरूपा तत्सिद्ध्यै प्रमाणान्तरस्य आवश्यकता न ।

पदार्थ—(प्रमाणान्तरस्य) अन्य प्रमाण की (अनपेक्षत्वात्) अपेक्षा न होने से (स्वयम्) आप (प्रमाणत्वात्) प्रमाणरूप होने से ।

भावार्थ—भगवान् की भक्ति करने में किसी प्रकार का परिश्रम वा क्लेश नहीं होता, यह बात किसी को समझाने की आवश्यकता नहीं है । जो भक्ति की उपासना करते हैं, उनको स्वयं ही इस बात का अनुभव हो जाता है । भक्ति हो गई या नहीं, विवाद के द्वारा इस सन्देह का निवारण नहीं करना पड़ता । भक्ति के साधन में क्लेश का उदय होने की तो बात ही क्या ? प्रत्युत सकल क्लेश दूर हो जाते हैं । उस भक्ति के लिए सच्ची उत्कण्ठा होते ही वह प्राप्त हो जाती है, चित्त की सच्ची चाहना ही उसका मूल्य है, अतएव भक्ति की सुलभता में भक्ति ही प्रमाण है ।।५९।।

शान्तिरूपत्वात् परमानन्दरूपत्वाच्च ॥ ६० ॥

भक्तिः शान्तिरूपा परमानन्दरूपा च अतोऽपि सुलभैव ।

पदार्थ—(शान्तिरूपत्वात्) शान्तिरूप होने से (च) और (परमानन्दरूपत्वात्) परमानन्द रूप होने से ।

भावार्थ—जिस साधन में अशान्ति और दुःख है वही दुर्गम है और जिसमें वाद-विवाद, द्वन्द्व, उद्वेग, सन्देह, संकल्प, विकल्प, सुख-दुःख आदि तरंगों का लेश भी नहीं है । किन्तु शान्ति और सुख है, वही सुगम है; जो सुलभ है वही सुगम है । भक्ति के सिवाय और सब साधनों के अनुष्ठान में अशान्ति और असुख होता है । भक्ति के अनुष्ठान से ही शान्ति तथा सुख उत्पन्न होता है, अन्य साधनों के सिद्ध होने पर शान्ति तथा सुख दीखता है परन्तु भक्ति में प्रवृत्ति होते ही शान्ति और सुख अनुभव होने लगता है, क्योंकि भक्ति स्वयं शान्तिरूप और सुखरूप है । कामना ही अशान्ति का मूल है, भक्ति का आरम्भ होते ही सब कामनाएँ रुकने लगती हैं और भक्ति परमानन्दरूप है इसको तो सभी जानते हैं ।।६०।।

लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्मलोकवेदत्वात् ।। ६१।।

भक्तौ लोकहानेश्चिन्ता न कर्त्तव्या यतस्तदा आत्मा लोको वेदश्च भगवते निवेदितः ।

पदार्थ—(निवेदितात्मलोकवेदत्वात्) आत्मा, लोक और वेद को निवेदन करने के कारण (लोकहानौ) लोकहानि के विषय में (चिन्ता) चिन्ता (न) नहीं (कार्या) करनी चाहिए ।

भावार्थ—जब आत्मा, लोक और वेद सब भगवान् को अर्पण कर चुके, फिर लोक-परलोक की चिन्ता क्या ? जो वस्तु जिसको अर्पण कर दी जाती है उसकी देख-भाल और रक्षा का भार उसी के ऊपर होता है, भगवान् उसकी चिन्ता स्वयं कर लेंगे; भक्त को तो केवल भगवान् की प्रेमसेवामात्र की चिन्ता रखनी चाहिए । यही आज्ञा भगवान् ने चतुःश्लोकी में दी है—

"एवं सदा स्वकर्त्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।
प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत् ।।
यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।
ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि"।। ६१।।

न तदसिद्धौ लोकव्यवहारो हेयः किन्तु
फलत्यागस्तत्साधनञ्च कार्यमेव ॥ ६२॥

तस्या भक्तेः सिद्धौ लोकव्यवहारो न हेयः = न त्याज्यः, किन्तु कर्मणः फलस्य त्यागः कर्त्तव्यः, तस्य = लौकिककर्मणः साधनमनुष्ठानञ्च कर्त्तव्यमेव ।

पदार्थ—(तत्सिद्धौ) प्रेमसिद्धि के विषय में (लोकव्यवहारः) लौकिक व्यवहार (न) नहीं (हेयः) त्यागना चाहिए (किन्तु) परन्तु (फलत्यागः) कर्म के फल का त्याग (च) और (तत्साधनम्) लौकिक कर्म का अनुष्ठान (कार्यम् एव) करना चाहिए ही ।

भावार्थ—भक्ति के साधक को ईश्वर में पूर्णतया आत्मनिवेदन की दृढ़ता होने से पहिले लोक-व्यवहारों को नहीं त्यागना चाहिए, नहीं तो वह दशा होगी कि "दोनों दीन से गये पांडे, हलुआ हुआ न माँडे" । साधन काल में एक साथ लोकव्यवहार को त्याग देने से तो शरीरयात्रा का निर्वाह होना भी कठिन है । योगारूढ़ होने का अभिलाषी पुरुष कर्मत्याग का अधिकारी नहीं है । जो योगारूढ़ हो जाता है वही कर्म को त्याग सकता है । जब तक योग में वृत्ति न जम जाय तब तक फल की इच्छा को त्याग कर सकल लौकिक कर्मों को अवश्य ही करता रहे । ऐसा करते-करते चित्त शुद्ध हो जाता है और शुद्धचित्त पुरुष ही योगसिद्धि पा सकता है । भक्तिमार्ग में श्रद्धा होते ही योग में प्रवृत्ति होती है । जो सकल संकल्पों को त्याग कर सब प्रकार से शरणागत होता है, वही श्रद्धालु है, वही लोकव्यवहार को त्याग सकता है । श्रद्धालु भी

तीन प्रकार का होता है—कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम । जिनको कुछ-कुछ श्रद्धा होती है वे कनिष्ठ श्रद्धालु हैं । इनको स्वनिष्ठ अधिकारी कहते हैं । स्वनिष्ठ अधिकारी कर्म को नहीं त्यागें किन्तु फल का उदय होने पर्यन्त आसक्ति को त्याग कर स्वधर्मविहित, हिंसारहित कर्मों का आचरण करते रहें । जिनकी श्रद्धा मध्यम श्रेणी की होती है वे मध्यम श्रद्धालु कहलाते हैं । इनको परिनिष्ठित अधिकारी भी कहते हैं । इनको भी कर्म का त्याग नहीं करना चाहिये । यदि इनकी चित्तशुद्धि हो गई तब भी उसकी दृढ़ता के लिए कर्म करते रहें । यह यदि प्रतिष्ठावान् हों तो लोकशिक्षा के लिए भक्ति-प्रधान कर्मों का अनुष्ठान करें, ऐसे कर्म फल की प्राप्ति पर्यन्त करने चाहिए । जिनकी श्रद्धा तीव्र हो वे उत्तम श्रद्धालु हैं । उत्तम श्रद्धालु का नाम निरपेक्ष है, निरपेक्ष भक्त केवल मन में श्रीभगवान् की सेवा करें, इस संसार के साथ सम्बन्ध रखने व त्यागने के लिए उनको किसी विधि वा निषेध की अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए । उनके ऐसे आचरण से संसार की कुछ क्षति नहीं हो सकती ।। ६२।।

स्त्रीधननास्तिकवैरिचरित्रं न श्रवणीयम् ॥ ६३ ॥

स्त्रियाः, धनस्य, नास्तिकस्य वैरिणः च चरित्रं न श्रोतव्यम् ।

पदार्थ—(स्त्रीधननास्तिकवैरिचरित्रम्) स्त्रियों के और धन के विषय की बातें, नास्तिकों और वैरियों का चरित्र (न) नहीं (श्रवणीयम्) सुनना चाहिए ।

भावार्थ—स्त्रियों के रूप, यौवन, हाव-भाव आदि का जिसमें वर्णन हो उन पुस्तकादि को न पढ़ो न सुनो; कोई ऐसी बातें करें तो भी न सुनो, क्योंकि सुनने से विलास-वासना का वेग बढ़ जायेगा । धन-वैभव की बातें न सुने, क्योंकि उसमें लोभ जाग उठेगा । नास्तिकों के चरित्र और उनकी कुटिल तर्कनाओं को मत पढ़ो व सुनो, क्योंकि ऐसा करने में भगवान् का विश्वास विचलित हो जायेगा । तुम्हारे शत्रुओं की बातें कोई सुनावें तो उधर को कान न लगाओ, क्योंकि उनके बुरे व्यवहार की बातें सुनने पर तुम्हारा चित्त खिन्न और अप्रसन्न होकर क्रोधादि का उत्पन्न होना और तपःशक्ति का विचलित होना सम्भव है ।। ६३।।

अभिमानदम्भादिकं त्याज्यम् ॥ ६४ ॥

अपराधहेतूनां दम्भादीनां त्यागः कर्त्तव्यः ।

पदार्थ—(अभिमानदम्भादिकम्) अभिमान, दम्भ आदि (त्याज्यम्) त्याग देना चाहिए ।

भावार्थ—अभिमान और दम्भ यह दो भक्तिमार्ग के बड़े विरोधी हैं, क्योंकि भक्ति सिद्ध हो जाने पर भी 'मैं भक्त हूँ, मैं उपदेष्टा हूँ' इत्यादि अभिमान और पूजा आदि में दिखावट के लिए बाहरी आडम्बररूप दम्भ का उदय हो सकता है । इसी कारण भक्तिपन्थी को अपराध रूप दम्भ, अभिमान, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य आदि का त्याग करना चाहिए ।। ६४ ।।

तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम् ॥ ६५ ॥

तस्मिन् = भगवति, अर्पितानि अखिलानि आचाराणि = कर्माणि येन, तेन कामादिकम् अपि तस्मिन् = भगवति एव करणीयम् ।

पदार्थ—(तदर्पिताखिलाचारः सन्) सकल कर्म भगवान् को अर्पण करते हुए (कामक्रोधाभिमानादिकम्) काम, क्रोध, अभिमान आदि (तस्मिन् एव) उसमें ही (करणीयम्) करना चाहिए ।

भावार्थ—शरीर, इन्द्रियों और मन से वैदिक-लौकिक जो कुछ कर्म करे वह सब भगवान् को ही अर्पण करे । यदि काम का वेग उठे तो अनन्यचित्त से परमात्मा में ही रति करे कि वह सर्वश्रेष्ठ प्यारा हमें मिलें । यदि क्रोध करना हो तो उसी के ऊपर करे कि वह हमकों क्यों नहीं मिलता ? यदि अभिमान करना हो तो भी उसी के विषय में करना कि हमारे सर्वैश्वर्यवान् प्रभु के समान मनोहर और कौन हो सकता है ? अथवा हमारे प्राणप्यारे के समान मनोहर और सुन्दर दूसरा कौन हो सकता है ? यदि लोभ हो तो भगवद्रूप भक्तों के संग का, यदि मोह हो तो इष्टदेव भगवान् का और यदि मद हो तो भगवान् के गुणगान का करो इत्यादि ।। ६५।।

त्रिरूपभङ्गपूर्वकं नित्यदास्यनित्यकान्ताभजनात्मकं वा प्रेम एव कार्यं प्रेम एव कार्यमिति ॥ ६६ ॥

त्रिरूपभङ्गपूर्वकं–पूर्वं रूपत्रयस्य पृथग्भावं परित्यज्य नित्यं दास्यरूपं कान्ताभजनात्मकं नारीसेवनस्वरूप–निर्गुणभक्तिसाध्यं प्रेम एव कर्त्तव्यम् ।

पदार्थ—(त्रिरूपभङ्गपूर्वकम्) पहिले तीन रूपों की भिन्नता को विनष्ट करके (नित्यदास्यनित्यकान्ताभजनात्मकम्) नित्य दासभाव और नित्य कान्तासेवनरूप (प्रेम एव) प्रेम ही (कार्यम्) करना चाहिए, (प्रेम एव) प्रेम ही (कार्यम्) करना चाहिए (इति) इस प्रकार ।

भावार्थ—ब्रह्मा, विष्णु, शिव तीनों में भेदभाव न रखकर; ब्रह्म, ईश्वर, जीव तीनों को एक मानकर; सत्त्व-रजः-तमः तीनों को एकत्र चूर्ण करके गुरु, भगवान् और भक्त तीनों को एक देखकर वा सत्-चित्-आनन्द तीनों को एकीभूत करके प्रथम दासभाव से आरम्भ कर अन्तिम कान्तभाव की सेवा करके जिसके द्वारा प्राप्त हो उस प्रेम का साधन करे । वह अपनी दृढ़ता और भगवान् की कृपा से प्राप्त होता है और किसी उपाय से प्राप्त नहीं होता । श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा है—

"अयि नन्दतनूज किङ्करं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ ।
कृपया तव पादपङ्कजस्थितधूलीसदृशं विचिन्तय"।।

हे नन्दनन्दन ! तुम्हारा सेवक मैं घोर भवसागर में डूब रहा हूँ, मुझे तुम अपने चरणकमलों में स्थित धूलि के समान विचारो ।। ६६।।

नवम अनुवाक

भक्ता एकान्तिनो मुख्याः ॥ ६७ ॥

एकान्तिनः = मदेकनिष्ठाः, भक्ताः मुख्याः = श्रेष्ठाः।

पदार्थ—(एकान्तिनः) ऐकान्तिक (भक्ताः) भक्त (मुख्याः) श्रेष्ठ हैं।

भावार्थ—जिनकी भक्ति अन्तःकरण से एक मुझमें ही निबद्ध होती है, बाहरी आडम्बर के लिए नहीं होती, जो एक मात्र मेरा ही आधार रखते हैं वे मेरे ऐकान्तिक वा एकनिष्ठ भक्त ही श्रेष्ठ हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभु का उपदेश है कि—

"न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भगवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि"।।

अर्थात् हे जगदीश्वर ! मैं धन नहीं चाहता, परिवार नहीं चाहता, सुन्दरी नारी नहीं माँगता, कवित्व शक्ति भी नहीं चाहता; केवल यही चाहता हूँ कि जन्म-जन्म में आपकी अहैतुकी भक्ति हो ।। ६७।।

कण्ठावरोधरोमाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीञ्च ॥ ६८ ॥

कण्ठावरोधो = गद्गदभावः, रोमः = रोमोद्गमः, अश्रुः = प्रेमाश्रुप्रवाहः, एतैरुपलक्षिताः परमप्रेममग्नाः भक्ताः परस्परम् = अन्योन्यं, लपमानाः = परमेश्वरं कीर्त्तयन्तः, कुलानि = निजवंश्यान्, पृथिवीं च पावयन्ति = पुनन्ति।

पदार्थ—(कण्ठावरोधरोमाश्रुभिः) कण्ठरोध, रोमाञ्च और अश्रुओं के द्वारा (परस्परम्) आपस में (लपमानाः) कीर्त्तन करते हुए (कुलानि) कुलों को (च) और (पृथिवीम्) पृथिवी को (पावयन्ति) पवित्र करते हैं।

भावार्थ—जिस समय भक्ति का प्रबल उभार होता है, जिस समय परम प्रेम से हृदय शिथिल हो जाता है, जिस समय प्राण सच्चे अनुराग में भर जाते हैं उस समय भक्त परस्पर भगवान् के गुण-नाम आदि का कीर्त्तन करते हैं, कण्ठरोध हो जाता है, शरीर पुलकायमान होकर रोम खड़े हो जाते हैं और न जाने किस के प्रेम में विह्वल होकर दोनों नेत्रों में से अविरल धार बहने लगती है। ऐसे महापुरुष शरीर, इन्द्रियों और मन के धर्म आदि संसार में मोहित नहीं होते; उनके मन में भोगवासना वा शरीर में भोगचेष्टा का उदय नहीं होता; उनको जन्म, कर्म आदि का देहाभिमान नहीं होता, उनके आत्मा में वा चित्त में अपने-पराये की भेदबुद्धि नहीं होती, वे त्रिलोकीभर की विभूति की प्राप्ति होने पर भी भगवत्स्मरण को नहीं भूलते, उनका चित्त-भ्रमर कभी भगवान् के चरणकमलों को नहीं त्यागता। यह अवस्था बड़ी पवित्र और बड़ी मनोहर है। इस अवस्था का साधन बड़ा दुर्लभ है। ऐसे साधक जिस समय भक्ति में भरकर परस्पर कीर्त्तन करते हैं उस समय वह केवल अपने वंशधरों को ही नहीं, किन्तु भूमण्डल भर

को पवित्र करते हैं । उनकी भक्ति की पवन शरीर को लग जाने पर पत्थर के समान कठोर हृदय में भी पवित्रता और भक्ति का संचार हो जाता है । तभी तो श्रीचैतन्यमहाप्रभु ने कहा है—

"नयनं गलदश्रुधारया, वदनं गद्गदरुद्धया गिरा ।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा, तव नामग्रहणे भविष्यति"।।

हे प्रभो ! कब आप का नाम लेने में मेरे नेत्रों से अश्रुधारा बहेगी, कण्ठ गद्गद और शरीर रोमांचित होगा ? ।। ६८।।

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि
सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि ॥ ६९ ॥

ते भक्ताः तीर्थानि = पावनस्थानानि, तीर्थीकुर्वन्ति = पुनन्ति, कर्माणि सुकर्मीकुर्वन्ति, शास्त्राणि अध्ययनेन सच्छास्त्रीकुर्वन्ति ।

पदार्थ—(तीर्थानि) तीर्थों को (तीर्थीकुर्वन्ति) पवित्र करते हैं, (कर्माणि) कर्मों को (सुकर्मीकुर्वन्ति) सुकर्म करते हैं, (शास्त्राणि) शास्त्रों को (सच्छास्त्रीकुर्वन्ति) सत्शास्त्र करते हैं ।। ६९।।

भावार्थ—पापी पुरुष तीर्थों पर जाते हैं तो तीर्थ उनके पाप को दूर करके पवित्र करते हैं, परन्तु उन पापियों के समागम से तीर्थों में जो मलिनता का स्पर्श हो जाता है, भक्तों के समागम से तीर्थ उस पाप से मुक्त होकर फिर तीर्थता पाते हैं । इसी से कहा है—

"जाह्नव्यादीनि तीर्थानि पापनिष्कृतिहेतवे ।
कांक्षन्ति हरिदासानां दर्शनं हरिदासवत् "।।

अनेकों कर्म हैं, उनमें से भक्तपुरुष जिन कर्मों का अनुष्ठान करते हैं वे सब कर्म-सुकर्म कहलाते हैं । ऐसे ही शास्त्र भी असंख्य हैं परन्तु उनमें से जिन शास्त्रों को भक्त पढ़ते हैं, रचते हैं वा व्याख्या करते हैं वे सब शास्त्र ही सच्छात्र हैं ।। ६९।।

तन्मयाः ॥ ७० ॥

यतः तन्मयाः = भगवदेकनिष्ठाः भवन्ति ।

पदार्थ—(तन्मयाः) तन्मय होते हैं ।।

भावार्थ—भगवान् पवित्रों को भी पवित्र करने वाले हैं—"पवित्राणां पवित्रं यः"। और मंगल करने वालों के भी मंगलरूवरूप हैं—"मङ्गलानाञ्च मङ्गलम्"। भक्त उनके भाव में भींगकर तन्मय हो जाते हैं, जैसे नदी सागर के भीतर जाकर सागर रूप हो जाती है वैसे ही भक्त भगवान् में आत्मसमर्पण करके भगवान् की पवित्र शक्तियों को पा जाते हैं । यही कारण है कि उनके समागम से तीर्थ, कर्म और शास्त्र भी पवित्र हो जाते हैं—

"तत्रैव गङ्गा यमुना त्रिवेणी गोदावरी सिन्धु सरस्वती च ।
सर्वाणि तीर्थानि वसन्ति तत्र यत्राच्युतोदारकथाप्रसङ्गः" ।।

इस श्लोक में यह दिखाया है कि भगवद्गुणगान का आसन सकल तीर्थों से भी पवित्र और ऊँचा है । यह भी शास्त्र में अनेकों स्थान पर कहा गया है कि जो कुछ कर्म करे वह भगवान् के उद्देश्य से करे । इससे सिद्ध है कि कर्मों की अपेक्षा भगवान् अधिक पवित्र हैं और यह भी कहा है कि—

"यस्मिन् शास्त्रे पुराणे च हरिभक्तिर्न दृश्यते ।
न श्रोतव्यं न वक्तव्यं यदि ब्रह्मा स्वयं वदेत्" ।।

इससे सिद्ध हुआ कि शास्त्र की पवित्रता का कारण भी भगवन्नाम ही है तब भगवद्भावमय श्रद्धेय भक्तों के संग से तीर्थादि पवित्र हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? ।।७०।।

मोदन्ति पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति ।। ७१।।

भक्तान् अवलोक्य पितरः मोदन्ति = प्रहृष्यन्ति, देवताः = इन्द्रादयः नृत्यन्ति, इयं भूः सनाथा भवति ।

पदार्थ—(पितरः) पितर (मोदन्ति) प्रसन्न होते हैं, (देवताः) देवता (नृत्यन्ति) नाचते हैं (च) और (इयम्) यह (भूः) भूमि (सनाथा) सनाथ (भवति) होती है ।

भावार्थ—भक्तों के प्रभाव से भूलोक पवित्र होता है, पितृलोकनिवासी और देवताओं का आकाश में सूक्ष्मतत्त्वपूर्ण तेजोमार्ग स्वच्छ होता है । भक्त का दर्शन पाकर सकल मर्त्य जीवों के मन पवित्र होकर पितृकार्य और देवकार्य में श्रद्धा होती है । याग, यज्ञ, पितृतर्पण आदि करने पर पितर और देवता तृप्त होते हैं । भक्तों को और उनके चरित्र, चेष्टा आदि को देखने पर भक्तों के पितर और कुलदेवता अपने को धन्य मानते हैं और भक्त को दर्शन देने के लिए भगवान् भूतल पर प्रकट तथा प्रकाशित होते हैं । इसलिए पृथिवी भी भक्त के अनुग्रह से सनाथ होती है—

"कुलं पवित्रं जननी च धन्या वसुन्धरा भागवती च धन्या ।
स्वर्गोऽपि तेषां पितरश्च धन्या येषां कुले वैष्णवनामधेयम्" ।। ७१ ।।

नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः ।। ७२।।

तेषु = भक्तेषु, जातिः = जन्म, विद्या = वेदादिपाठः, रूपं = सौन्दर्यं, कुलं धनं क्रियादीनां भेदः च न भवति ।

पदार्थ—(तेषु) उन भक्तों में (जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः) जन्म, विद्या, रूप, कुल, धर्म, कर्म आदि का भेद (न) नहीं (अस्ति) है ।

भावार्थ—ब्राह्मण वा शूद्र, चाण्डाल वा म्लेच्छ, मनुष्य वा पशु जो भी जीव भक्तियुक्त होकर भगवान् का शरणागत होगा, भक्तवत्सल भगवान् उसकी

जाति-विद्यादि की ओर को दृष्टि न देकर दर्शन देंगे, क्योंकि उनकी तो प्रतिज्ञा है कि—"यो मद्भक्तः स मे प्रियः" तथा भक्त भी परस्पर जाति-विद्या आदि का गौरव-लाघव नहीं रखते हैं, क्योंकि भगवत्प्रेमी का लक्षण ही यह है कि—

"न यस्य जन्मकर्मभ्यां वर्णाश्रमजातिभिः ।
सज्जतेऽस्मिन्नहम्भावो देहे वै स हरेः प्रियः"।।

अर्थात् जिसको इस शरीर में जन्म, कर्म, वर्ण, आश्रम और जाति आदि का अहंकार नहीं होता वह भी भगवान् का प्यारा भक्त है ।।७२।।

यतस्तदीयाः ॥ ७३ ॥

यतो हेतोः ते तदीयाः ।

पदार्थ—(यतः) क्योंकि (तदीयाः) उनके हैं ।

भावार्थ—जब तुम उनके हो और वह भी उनके हैं तथा जब तुम्हारी और उनकी एकावस्था विना हुए दोनों को वह अपना करते ही नहीं और जब दोनों के हृदय में समानभाव से विराजमान हैं, तब दोनों में भेद कैसा ? ।।७३।।

दशम अनुवाक

वादो नावलम्ब्यः ॥ ७४ ॥

वादः = प्रतिकूलो तर्कः, नावलम्ब्यः = न स्वीकर्त्तव्यः ।

पदार्थ—(वादः) शुष्क तर्क (न) नहीं (अवलम्ब्यः) स्वीकार करना चाहिए ।

भावार्थ—भक्तिमार्ग में वाद अर्थात् शुष्क तर्क को सर्वथा त्याग देना चाहिए । जिसका प्रत्यक्ष वा अनुमान नहीं हो सकता उसमें तर्क करना निष्प्रयोजन है । विश्वास की दृढ़ता के लिए कहीं-कहीं सत् तर्क कर ले, परन्तु प्रतिकूल तर्क तो करे ही नहीं । क्योंकि तर्क-वितर्क वाद-विवाद करने से मन में दूसरे को जीतने का दुराग्रह होता है और साथ-साथ तमोगुण का उदय हो जाता है । तमोगुण भक्ति का बाधक है इसलिए वाद-विवाद को त्याग दे ।।७४।।

बाहुल्यावकाशत्वादनियतत्वात् ॥ ७५ ॥

वादे बहुलतया अवकाशः समयापव्ययो भवति तत्र भगवत्प्राप्ति-नियमोऽपि नास्ति अतः स त्याज्यः ।

पदार्थ—(बाहुल्यावकाशत्वात्) अधिक अवकाश वाला होने से (अनियतत्वात्) नियमरहित होने से ।

भावार्थ—भगवत्तत्त्व को जानने के लिए वाद-विवाद करना नितान्त निरर्थक है । तुम चाहे जितना वाद-विवाद करो, चाहे जितनी शास्त्रीय चतुराई दिखाओ, चाहे जितना कूट तर्कों का जाल फैलाओ, तुम्हारी बुद्धि भगवान् को नहीं

पावेगी —

"यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"।

अर्थात् मन उसको न पाकर वाणी के सहित लौट आता है । व्यासजी ने कहा है—"तर्काप्रतिष्ठानात्" वह तो मन और बुद्धि का अगोचर है कि "नेति, नेति" वाक्यों के द्वारा वेदान्त ने उसका वर्णन करने की चेष्टा की है, तुम्हारा वृथा वाद-विवाद उस राज्य का क्या समाचार पा सकता है ? एकमात्र भक्ति से ही जिसको पाया जाता है—

"भक्त्याहमेकया ग्राह्यः, भक्त्या त्वनन्यया लभ्यः"।

उसको पाने के लिए वाद-विवाद को छोड़ दो, केवल उसका विश्वास करो ।।७५।।

भक्तिशास्त्राणि मननीयानि तद्वर्द्धककर्माण्यपि करणीयानि ॥ ७६ ॥

भक्तिशास्त्राणि = भक्तिप्रतिपादकानि ग्रन्थानि, मननीयानि = विचारणीयानि, तद्वर्द्धकानि = भक्तिवर्द्धकानि, कर्माणि अपि करणीयानि ।

पदार्थ—(भक्तिशास्त्राणि) भक्तिशास्त्रों को (मननीयानि) विचारें, (तद्वर्द्धककर्माणि) भक्ति को बढ़ाने वाले कर्म (करणीयानि) करें ।

भावार्थ—वाद-विवाद को छोड़कर केवल सिद्धान्त स्वरूप भक्तिशास्त्र में जो कुछ लिखा है उसका विचार करें । आचार्य और भक्तों के सिद्धान्त-वाक्यों के गूढ़तत्त्वों को समझे और भक्ति को बढ़ाने के लिए सत्संग, तीर्थयात्रा, भगवत्कथाओं का श्रवण, भक्तों के साथ सम्भाषण, भगवत्सेवा और गुरुशुश्रूषा आदि कार्य करें तो भक्ति बराबर बढ़ती रहेगी ।।७६।।

सुखदुःखेच्छालाभादित्यक्ते काले प्रतीक्ष्यमाणे
क्षणार्द्धमपि व्यर्थं न नेयम् ॥ ७७ ॥

पदार्थ—(सुखदुःखेच्छालाभादित्यक्ते) सुख-दुःख, इच्छा-लाभादि शून्य (काले प्रतीक्ष्यमाणे) काल की प्रतीक्षा करते हुए (क्षणार्द्धम् अपि) आधा क्षण भी (न) नहीं (नेयम्) बिताना चाहिए ।

भावार्थ—मनुष्य-जीवन का समय है ही थोडा-सा, फिर उसका बहुत-सा भाग विवश होकर प्रकृति के नियमानुसार बालकपन, शयन आदि में बिताना पड़ता है । कभी दुःख में, कभी सुख में और कभी विषयचिन्तन में समय बीत जाता है । यदि भाग्यवश कभी वासनाओं का क्षय होकर तुम्हें सुख-दुःखादि से रहित समय मिल जाय तो उसमें से आधा क्षण भी व्यर्थ नहीं खोना चाहिए । उसमें परमपुरुषार्थरूप परमप्रेम का अनुसन्धान करना चाहिए ।।७७।।

अहिंसासत्यशौचदयास्तिक्यादिचारित्राणि परिपालनीयानि ॥ ७८ ॥

पदार्थ—(अहिंसासत्यशौचदयास्तिक्यादिचारित्राणि) अहिंसा, सत्य, शौच, दया, आस्तिकता आदि आचार (परिपालनीयानि) पालन करने चाहिए ।।७८।।

भावार्थ—चित्त की मलिनता को दूर करने के लिए और सत्त्वगुण का उदय होने के लिए अहिंसा, सत्य, शौच, दया और आस्तिकता आदि यम-नियमों का आचरण यथाशक्ति करें ।।७५।।

सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तितैर्भगवानेव भजनीयः ॥ ७९॥

पदार्थ—(सर्वदा) सब काल में (सर्वभावेन) सब भाव से (निश्चिन्तितैः) निश्चिन्तरूप से (भगवान् एव) भगवान् ही (भजनीयः) सेवा करने योग्य हैं ।

भावार्थ—अब सिद्धान्तवाक्य कहते हैं कि तुम प्रतिदिन सकल कार्यों में उठते, बैठते, खाते, पीते सदा भगवान् की सत्ता को देखो । भगवद्भावना के समय संसार की सब चिन्ताओं को छोड़ दो, क्योंकि संसार की मलिन चिन्ता के मध्य में भगवद्भक्ति का पूरा-पूरा प्रकाश नहीं होता; भक्ति ठीक न होने से भजन में भी अड़चन रहती है ।। ७९ ।।

सङ्कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवत्यनुभावयति भक्तान् ॥ ८० ॥

पदार्थ—(सङ्कीर्त्यमानः) कीर्त्तन किया जाता हुआ (शीघ्रम् एव) शीघ्र ही (आविर्भवति) प्रकट होता है (भक्तान्) भक्तों को (अनुभावयति) अनुभवयुक्त करता है।

भावार्थ—भगवान् ने कहा है कि—

"नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च ।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद"।।

जहाँ मेरे भक्त मेरे नाम-गुण आदि का कीर्त्तन करते हैं, मैं वहाँ ही नित्य विराजमान रहता हूँ । श्रीभगवान् का कीर्त्तन बड़ा भारी साधन है, वह दुष्ट घोड़े के समान चंचल मन को रोकने के लिए लगाम है । मन को लय-विक्षेप आदि रहित अवस्था में समाधि के योग्य करने का उपाय कीर्त्तन ही है । श्रवण और स्मरण कीर्त्तन के अङ्ग हैं, कीर्त्तन दशा में श्रवण और स्मरण अपने आप ही होते हैं । कीर्त्तन की बड़ी भारी महिमा है, कीर्त्तन होने पर भगवान् शीघ्र ही भक्त के हृदय में प्रकट हो जाते हैं और भक्तों को मनचाहे रूप का दर्शन देते हैं ।। ८० ।।

त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी ॥ ८१ ॥

पदार्थ—(त्रिसत्यस्य) त्रिकाल में सत्स्वरूप भगवान् की (भक्तिः एव) भक्ति ही (गरीयसी) सबसे श्रेष्ठ है (भक्तिः एव) भक्ति ही (गरीयसी) सबसे श्रेष्ठ है ।

भावार्थ—भगवान् को पाने के शास्त्र में जितने साधन कहे हैं, उनमें एक भक्ति ही सबसे सुगम और श्रेष्ठ उपाय है, क्योंकि "भक्तिप्रियो माधवः"। अन्य साधन

बड़ी कठिनता से हो सकते हैं तथा उनमें सर्व साधारण का अधिकार भी नहीं है। परन्तु भक्ति ऐसा साधन है कि केवल दीनभाव के आवेश में भगवान् को पुकारने पर भी भक्तवत्सल भगवान् तुम्हारे हृदय में उदित हो जायेंगे। जो सिद्धि युग-युगान्त योगसाधना करने से नहीं होती वह भक्ति की साधना से क्षणभर में हो सकती है। योगराज्य में जो वाणी और मन के पार है, वही भक्तिराज्य में हृदय की तय-तय में गुथा और जड़ा हुआ है। इसी से नारदजी कहते हैं कि भक्ति से श्रेष्ठ और कोई साधन नहीं है।। ८१।।

गुणमाहात्म्यासक्ति-रूपासक्ति-पूजासक्ति-स्मरणासक्ति-दास्यासक्ति-सख्यासक्ति-कान्तासक्ति-वात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्ति-तन्मयासक्ति- परमविरहासक्तिरूपैकधाप्येकादशधा भवति ॥ ८२॥

पदार्थ—(एकधा अपि) एक प्रकार की भी (गुणमाहात्म्यासक्ति-रूपासक्ति-पूजासक्ति-स्मरणासक्ति-दास्यासक्ति-सख्यासक्ति-वात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्ति-तन्मयासक्ति-परमविरहासक्तिरूपा) गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयासक्ति और परमविरहासक्ति रूप (एकादशधा) ग्यारह प्रकार की (भवति) होती है।

भावार्थ—जो जिसको चाहता है वह उसकी सकल चेष्टा और सकल अंगों को चाहता है, तथापि न जाने क्यों कोई-कोई किसी-किसी अंग की सुन्दरता और किसी-किसी अंग की चेष्टा को विशेषरूप से प्रेम करते हैं। ऐसे ही भक्त भगवान् में सब प्रकार से आसक्त होते हैं, परन्तु कोई-कोई भक्त उनके किसी-किसी भाव में विशेष आसक्त होते हैं। जैसे राजा परीक्षित, नारद, हनुमान् और हरिगुण सुनने को दश सहस्र कान माँगने वाले राजा पृथु भगवान् के गुण-माहात्म्यासक्त भक्त हुए। कृष्ण के बालरूप के प्रेमी नन्द, उपनन्द, यशोदा आदि और किशोर रूप की प्रेमिका व्रजदेवियाँ, पशु-पक्षी आदि रूपासक्त भक्त थे। राजा पृथु पूजासक्त, प्रह्लाद स्मरणासक्त; हनुमान्, अक्रूर, विदुर आदि दास्यासक्त; अर्जुन, सुग्रीव, उद्धव, कुबेर, सुबल, श्रीदामादि सख्यासक्त; व्रजगोपिकाएँ कान्तासक्त; नन्द, यशोदा, कौशल्या, दशरथ आदि वात्सल्यासक्त; राजा बलि आत्मनिवेदनासक्त; कौण्डिन्य, शुकदेव आदि महायोगी अभेदभाव से तन्मयासक्त; श्रीकृष्ण के वैकुण्ठ को पधारने पर गोपी और उद्धव आदि परम विरहासक्त भक्त कहलाये हैं।। ८२।।

इत्येवं वदंति जनजल्पनिर्भया एकमताः कुमारव्यासशुकशाण्डिल्यगर्गविष्णुकौण्डिन्यशेषोद्धवारुणिबलिहनुमद्विभीषणादयो भक्त्याचार्याः ॥ ८३ ॥

पदार्थ—(इति) इस भक्ति के स्वरूप को (एवम्) इस प्रकार (जनजल्पनिर्भयाः) लोकहास्य से निर्भय हुए (एकमताः) एक है मत जिनका ऐसे (कुमारव्यासशुकशाण्डिल्यगर्गविष्णुकौण्डिन्यशेषोद्धवारुणिबलिहनुमद्विभीषणादयः) सनत्कुमार, व्यासजी, शुकदेव, शाण्डिल्य, गर्ग, विष्णु, कौण्डिन्य, शेष, उद्धव, आरुणि, बलि, हनुमान्, विभीषण आदि (भक्त्याचार्याः) भक्ति के आचार्य (वदन्ति) कहते हैं ।

भावार्थ—लोकों की बकवाद का कुछ भय न करके सनत्कुमार, वेदव्यास, शुकदेवजी, शाण्डिल्य, गर्गाचार्य, विष्णुस्वामी, कौण्डिन्य, शेष, उद्धव, आरुणि, बलि, हनुमान्‌जी और विभीषण आदि भक्ति के सब आचार्यों ने एकमत होकर एक वाक्य से भक्ति के स्वरूप का इस प्रकार वर्णन किया है । उनके मत और व्याख्या के अनुसार नारदजी के भक्तिसूत्रों को चाहे कोई उपहास्य की दृष्टि से देखें, परन्तु वे उससे भयभीत नहीं हैं । इसी कारण साहस के साथ ऊपर को भुजा उठा कर सब मनुष्यों से कहते हैं कि—हे जीवो! यदि अपना अपना कल्याण चाहते हो तो भक्तिमार्ग के पथिक बनो ।।८३।।

य इदं नारदप्रोक्तं शिवानुशासनं विश्वसिति श्रद्धत्ते सभक्तिमान् भवति स प्रेष्ठं लभत इति ॥ ८४ ॥

पदार्थ—(यः) जो (इदम्) इस (नारदप्रोक्तम्) नारदजी के कहे (शिवानुशासनम्) शिवोपदेश को (विश्वसिति) विश्वास करता है (श्रद्धत्ते) श्रद्धा करता है (सः) वह (भक्तिमान्) भक्तिवाला (भवति) होता है, (सः) वह (प्रेष्ठम्) प्रियतम को (लभते) पाता है (इति) भक्तिसूत्र समाप्त हुए ।

भावार्थ—भक्ति की व्याख्या करके अब फल कहते हैं कि—यद्यपि और साधनों से भगवान् को ब्रह्मा, विष्णु, शिव, नारायण आदि रूप में पा सकते हो, परन्तु भक्ति की साधना के बिना परम प्यारे रूप से उसको नहीं पा सकते । जो इन नारदजी के सूत्रों पर विश्वास और श्रद्धा करके भक्तिमार्ग में चलेंगे, वे प्रियतमरूप में भगवान् का दर्शन पायेंगे । श्रुति ने भी भगवान् के प्रियतम रूप का वर्णन किया है—

"प्रेयो वित्तात्प्रेयः पुत्रात्प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादान्तरतरं तदयमात्मा"।

अर्थात् आत्मा (भगवान्) धन से, पुत्र से तथा और सकल प्रिय वस्तुओं से भी प्रिय हैं ।।८४।।

पदार्थ और भावार्थ सहित भक्तिसूत्र समाप्त ।

धर्मशास्त्र-कर्मकाण्ड-ग्रन्थ

अन्नपूर्णा-रहस्यम् । पं. अशोक कुमार गौड़
कुण्डार्कः । संस्कृत-हिन्दीव्याख्या सहित । पं. अभय कात्यायन
श्रीकृष्णरहस्यम् । हिन्दी-टीका सहित । पं. अशोक कुमार गौड़
गणपतिरहस्यम् । पं. अशोक कुमार गौड़
गायत्रीरहस्यम् । हिन्दी-टीका सहित । पं. अशोक कुमार गौड़
गंगारहस्यम् । हिन्दी-टीका सहित । पं. अशोक कुमार गौड़
कर्मकाण्डप्रदीपः । पं. अण्णाशास्त्री वारे
खादिरगृह्यसूत्रम् अथवा द्राह्यायणगृह्यसूत्रम् । उदय नारायण सिंहकृत हिन्दी-टीका सहित
गोभिलगृह्यसूत्रम् । पं. सत्यव्रतसामाश्रमिकृत संस्कृत व्याख्या । उदय नारायण सिंहकृत हिन्दी-टीका सहित
गृहप्रवेशपद्धतिः । पं. विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी
नृसिंहरहस्यम् । हिन्दी-टीका सहित । पं. अशोक कुमार गौड़
पञ्चदेव-प्रतिष्ठा-रहस्यम् । पं. अशोक कुमार गौड़
पारस्करगृह्यसूत्रम् । 'हरिहर'-'गदाधर' भाष्यसंवलित । 'विमला' हिन्दी व्याख्यासहित । डॉ. जगदीशचन्द्र मिश्र
भारतीय धर्मशाखाएँ और उनका इतिहास । डॉ. वाचस्पति गैरोला
मण्डपकुण्डसिद्धिः (कुण्डमण्डपसिद्धिः) । संस्कृत-हिन्दीव्याख्या सहित । पं. अभय कात्यायन
मनुस्मृतिः । हिन्दी-टीका सहित
याज्ञवल्क्यस्मृतिः । मिताक्षरा संस्कृत तथा हिन्दी-टीका सहित । डॉ. गंगासागर राय
रामरहस्यम् । अशोकेन्दु हिन्दी टीका सहित । पं. अशोक कुमार गौड़
राधारहस्यम् । हिन्दी-टीका सहित । पं. अशोक कुमार गौड़
रुद्रयागरहस्यम् अथवा रुद्रयाग पद्धतिः । हिन्दी-टीका सहित । पं. अशोक कुमार गौड़
वेदीपूजा-रहस्यम् अर्थात् वेदीपूजा विधिः । (ग्रहशान्ति, वाशिष्ठीहवन, स्मार्तप्रभु एवं यज्ञादि अनुष्ठानों से युक्त) । पं. अशोक कुमार गौड़
विष्णुयागरहस्यम् । पं. अशोक कुमार गौड़
विष्णुरहस्यम् । हिन्दी-टीका सहित । पं. अशोक कुमार गौड़
श्यामरहस्यम् अर्थात् खाँटू बाबा श्यामरहस्यम् । पं. अशोक कुमार गौड़
शिवरहस्यम् । हिन्दी-टीका सहित । पं. अशोक कुमार गौड़
नारदभक्तिसूत्र । हिन्दी-टीका सहित
शाण्डिल्यभक्तिसूत्र । नारायणतीर्थविरचित संस्कृत टीका एवं हिन्दी अनुवाद सहित

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी • चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली